भारतीय लोक-साहित्य

श्याम परमार

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई नई दिल्ली

मूल्य :
तीन रुपये आठ आने

प्रकाशक :
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड,
बम्बई।

मुद्रक :
श्री गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस,
दिल्ली।

विषय-सूची

१

'लोक' की व्याख्या

आधुनिक युग में अध्ययन की नई दिशाओं और साहित्य, कला, आदि की नवीन प्रवृत्तियों ने साहित्य-मनीषियों की दृष्टि में 'लोक' की महत्ता निर्विवाद रूप से प्रस्थापित कर दी है। अतएव 'लोक' से सम्बन्धित विषयों का शास्त्रीय पक्ष 'लोक' की सही-सही व्याख्या के अभाव में सर्वथा अपूर्ण है।

'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चित मत उपलब्ध नहीं है और न ही भारतीय एवं पाश्चात्य भाषाविदों में मतैक्य है। ऋग्वेद में प्रयुक्त 'देहि लोकम्' के अनुसार 'लोक' का स्थान के अर्थ में एक प्रयोग मिलता है। वेद (अथर्ववेद और ऋग्वेद) पार्थिव और दिव्य दो प्रकार के लोक की स्थिति व्यक्त करते हैं। पर 'ब्राह्मण-ग्रन्थ,' 'बृहदारण्यक उपनिषद्' एवं 'वाजसनेही संहिता' में वैसे किसी भेदात्मक स्थिति का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है।

आर्यों के आगमन पर आर्येतर जातियों से उनकी मुठभेंट दो भिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के रूप में व्यक्त हुई। फलस्वरूप 'वेद' और 'वेदेतर' स्थिति प्रगट हुई। इससे एक और अन्य अर्थ की उद्भावना सहज ही हो गई, जिसके अनुसार 'लोक' का दूसरा अर्थ वेद-विरोधी (वेदेतर) हुआ। 'वेद' और 'लोक' की भिन्नता ने वेद की प्रतिष्ठा के साथ 'लोक' के स्वतन्त्र महत्त्व को क्रमशः स्वीकार किया। किन्तु आज 'लोक' वेदेतर

संस्कृति के संकुचित अर्थ से ऊपर उठ चुका है। उसकी भावना वैदिक और अवैदिक दोनों वर्गों को सहज रूप से छूने लगी है। वह परम्परा का सहेजक एवं अनुभूति की संवेदनापूर्ण अभिव्यक्ति का सतत संवाहक है। उसके पास अपने शब्द, भाषा और लोकग्राही शैली है। जीवन से सम्बन्धित सभी उपकरणों को लिये हुए उसका अपना एक सामूहिक व्यक्तित्व है। वस्तुतः जिसे संस्कृति की संज्ञा दी जाती है वह 'लोक' से भिन्न नहीं है। उसका उत्स 'लोक' ही है। 'लोक' का महत्त्व सर्वकालीन है। गीता के 'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' के द्वारा लोक-शास्त्र तथा लौकिक आचारों की महत्ता स्पष्टतः मान्य है। अशोक के शिला-लेखों में 'लोक' का प्रयोग समस्त प्रजाजनों के हित में हुआ है। बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ 'लोक' मानव मात्र के भावों से भूषित हुआ। प्राकृत एवं अपभ्रंश में प्रयुक्त 'लोकजत्ता' 'लोअप्पवाय' आदि शब्द लौकिक नियमों का महत्त्व व्यक्त करते हैं। यजुर्वेद में 'लोक' (समाज) की एक विराट् कल्पना की गई है। वह पुरुष रूप ईश्वर है। उसके सहस्रों मुख, सहस्रों नेत्र, और सहस्रों पद हैं—

सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् [१]

यह 'लोक' अनेक रूपों में परिव्याप्त है—

बहु व्याहितो वा अयं बहुशो लोकः [२]

अतः 'लोक' साधारण जन-समाज है, जिसमें भू-भाग पर फैले हुए समस्त प्रकार के मानव सम्मिलित हैं। यह शब्द वर्ग-भेद रहित, व्यापक, एवं प्राचीन परम्पराओं की श्रेष्ठ राशि सहित अर्वाचीन सभ्यता-संस्कृति के कल्याणमय विकास का द्योतक है। भारतीय समाज में नागरिक एवं ग्रामीण दो भिन्न संस्कृतियों का प्रायः उल्लेख किया जाता है, किन्तु 'लोक' दोनों संस्कृतियों में विद्यमान है। वही समाज का गतिशील अंग है। डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में, "लोक हमारे जीवन का महा समुद्र

१. ऋ० १०।९०; यजु० ३१

२. जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३।२८

है; उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी-कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है, लोक कृत्स्न ज्ञान और सम्पूर्ण अध्ययन में सब शास्त्रों का पर्यवसान है। अर्वाचीन मानव के लिए लोक सर्वोच्च प्रजापति है। लोक, लोक की धात्री सर्वभूतमाता पृथिवी और लोक का व्यक्त रूप मानव, यही हमारे नये जीवन का अध्यात्म-शास्त्र है। इसका कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार, और निर्माण का नवीन रूप है। लोक-पृथिवी-मानव, इसी त्रिलोकी में जीवन का कल्याणतम रूप है।"[1]

आधुनिक साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों में 'लोक' का प्रयोग 'गीत, वार्ता, कथा, संगीत, साहित्य, आदि से युक्त होकर साधारण जन-समाज जिसमें पूर्व-संचित परम्पराएँ, भावनाएँ, विश्वास और आदर्श सुरक्षित हैं तथा जिसमें भाषा और साहित्यगत सामग्री ही नहीं, अपितु अनेक विषयों के अनगढ़ किन्तु ठोस रत्न छिपे हैं, के अर्थ में होता है।

भारतीय लोक-साहित्य इसी क्षेत्र का साहित्य है जो नवीन प्रवृत्तियों के रूप में भावी भारत के लिए मंगल का सन्देश लेकर आ रहा है, जो युगों से भगवती भागीरथी की तरह प्रवहमान होते हुए भी (लोक के भीतर व्याप्त होकर) युगों से विद्वज्जनों के समक्ष उपेक्षा की वस्तु बना हुआ था, पर अब 'प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः' मन्त्र अध्येताओं के लिए नया दृष्टिकोण लेकर आ रहा है। 'यह भूमि माता है, मैं पृथिवी का पुत्र हूँ' (माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः) अथर्ववेद का यह सूक्त आज के मनीषियों की आत्मा में 'लोक' के सन्निकट्य के प्रति प्रेरणा का संचार कर रहा है। भारतीय किसान भारतीय 'लोक' का महाप्राण है। वह युगों से उक्त सूक्त के आशय को क्रियान्वित करता आ रहा है। उसका जीवन 'लोक' का यथार्थ प्रतिनिधित्व करता आ रहा है। अतएव वही लोक-साहित्य की आधार-शिला है; वही जेम्स ग्रिम के Das Volksdichter (जनसमुदाय) का प्रधान अंग है।

---

१. सम्मेलन पत्रिका (लोक-संस्कृति विशेषांक), २०१०, पृष्ठ ६५

'फोक' एवं 'लोक'

'फोक' (Folk) शब्द की उत्पत्ति Folc से हुई है। यह ऐंग्लो-सेक्सन शब्द है जो जर्मनी में Volk रूप में प्रचलित है। आंग्ल-भाषी प्रयोग की दृष्टि में 'फोक' असंस्कृत और मूढ़ समाज अथवा जाति का द्योतक है, पर सर्वसाधारण और राष्ट्र के सभी लोगों के लिए भी इसका प्रयोग होता है। अतः इसके संकुचित और विस्तृत दोनों ही अर्थ उपलब्ध हैं।

हिन्दी का 'लोक' शब्द 'फोक' का पर्यायवाची है। 'जन' या 'ग्राम' यद्यपि 'फोक' के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु सीमित अर्थ के बोधक होने से उन्हें 'फोक' के समानार्थी नहीं समझना चाहिए। 'जन' प्राचीन शब्द है। संस्कृत एवं पालि ग्रन्थों में मानव-समाज का बोध 'जन' से कराया गया है। इस नाते 'जन' और 'लोक' में काफी सप्राणत्व है। पर प्रयोग और परम्परा के भव्य 'केनवास' में आधुनिक 'फोक' की अनुरूपता के लिए 'लोक' ही अधिक उपयुक्त एवं प्रतिबिम्बात्मक है। न केवल इतना ही, पूर्व संस्कारों के कारण वह 'फोक' से कहीं अधिक विशाल स्तर को स्पर्श करता है।

२

लोक-वार्ता एवं लोक-साहित्य

प्रयोग की समस्या

'लोक-वार्ता' अंग्रेजी के 'फोकलोर' (Folklore) शब्द का पर्यायवाची है। हिन्दी में इसके प्रचार का अधिकांश श्रेय श्री कृष्णानन्द गुप्त एवं डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल को है। जिस प्रकार 'फोक' का हिन्दी पर्याय 'लोक' कहीं अधिक विशदार्थी है, उसी भाँति 'लोक-वार्ता' शब्द 'फोकलोर' से अधिक विस्तृत भावों को वहन करता है।

'लोर' (lore) शब्द "ऐंग्लो सेक्सन lar से निकला है और इसका अर्थ होता है वह जो सीखा जाय। इस प्रकार 'फोकलोर' का शाब्दिक अर्थ 'असंस्कृत लोगों का ज्ञान' है।"

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार स्थूल रूप से समाज दो वर्गों में विभक्त है—एक उच्च वर्ग और दूसरा निम्न वर्ग। इसी निम्न वर्ग में सर्व-सामान्य जनता की संस्कृति, परम्परागत विश्वास, किंवदन्तियाँ, आचार-विचार, गीत, कथाएँ, कहावतें, नृत्यादि मिलते हैं। सभ्य जातियों में उपलब्ध होने वाले असभ्य जन के इन्हीं विश्वासों, रूढ़ियों, भ्रमों, श्रद्धा-भावनाओं, कथाओं, गीतों, कहावतों आदि को देखकर कदाचित् डब्ल्यू० जे० थामस ने ई० स० १८४६ में प्रथम बार 'फोकलोर' शब्द का प्रयोग किया।[1]

---

१. एन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज़, जि०९, पृष्ठ २८८

ठीक इसी वर्ष अगस्त मास में विलियम जॉन टाम्स ने अन्य नाम से 'फोकलोर' शीर्षक लेख प्रकाशन के लिए प्रेषित किया जो यूरोप की अनेक भाषाओं में हेर-फेर के साथ उद्धृत किया गया। इसी शब्द का वाच्यार्थ 'लोक-ज्ञान' अथवा 'लोक-विद्या' भी है। किन्तु हिन्दी में 'लोक-वार्ता' विशेष रूप से प्रचलित है। सन् १९३० में श्री म० म० पोतदार ने मराठी में 'फोकलोर' के लिए 'लोक-विद्या' शब्द सुझाया था, जो अधिक प्रचार में न आ सका। श्री गो० म० कालेलकर ने 'लौकिक दन्त-कथा' का प्रयोग किया एवं मराठी के पारिभाषिक शब्द-कोष में 'जनश्रुति' शब्द उपलब्ध है। 'फोकलोर' के लिए 'लोक-वाङ्मय' अथवा 'लोक-साहित्य' शब्दों का प्रयोग भी प्रायः भूल से किया जाता है। चूँकि पर्याय का निश्चित स्वरूप निर्धारित नहीं हो सका है, अतः समय-समय पर इसी प्रकार के प्रयोग सम्मुख आते रहेंगे। जहाँ तक मराठी का प्रश्न है श्री चि० ग० कर्वे ने 'लोक-विद्या' शब्द ही प्रचलित करने का आग्रह किया है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने हिन्दी में वैष्णवों के 'वार्ता' सम्बन्धी ग्रन्थों के अनुरूप (८४ वैष्णवों की वार्ता, घरू वार्ता, आदि) 'फोकलोर' का 'लोक-वार्ता' पर्याय स्वीकार किया है। इस विषय में भाषा-विज्ञान-वेत्ता श्री भोलानाथ तिवारी ने हाल ही में अपने विचार प्रकाशित किये हैं। उनके मतानुसार 'लोक-वार्ता' में अधिक-से-अधिक 'लोक-कथा' का भाव वहन करने की क्षमता है। (डिंगल में 'वारता' अथवा 'बारता' का प्रयोग कथा के अर्थ में ही होता है।) संस्कृत-साहित्य में इसी शब्द का अर्थ 'अफ़वाह' या 'किंवदन्ती' है (संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ, द्वारकाप्रसाद शर्मा।) संस्कृत कोषकार श्री आप्टे ने 'लोक-वार्ता' का अर्थ 'पापुलर रिपोर्ट' या 'पब्लिक रूमर' दिया है। इसी शब्द के लिए 'लोक-संस्कृति' का प्रयोग डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया है जो 'फोकलोर' का पर्याप्त आशय व्यक्त नहीं करता है। श्री तिवारी जी डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या द्वारा प्रयुक्त 'लोकायन' (फोकलोर) के लिए विशेष आग्रह करते हैं। सुनीति बाबू के शब्दों में "पितृ-परम्परागत जीवन-यात्रा की पद्धति जिन

सामाजिक अनुष्ठानों, विश्वास-विचारों तथा वाङ्मय से अपने लौकिक प्रकाश को प्राप्त करती हैं उन्हें अंग्रेजी में 'फोकलोर' कहते हैं। इस शब्द का भारतीय प्रतिशब्द हमने 'लोकायन' यों बना लिया है।"[1] 'फोकलोर' के लिए वैसे लोक-शास्त्र, लोक-विज्ञान, लोक-परम्परा, लोक-प्रतिभा, लोक-प्रवाह, लोक-पथ, लोक-विधान, लोक-संग्रह, लोक-अयन, आदि शब्दों की ओर भी श्री तिवारी ने संकेत किया है, किन्तु आग्रह 'लोकायन' के प्रति ही है।[2]

'लोक-वार्ता' शब्द हिन्दी में क्रमशः अपना स्थान निर्धारित कर चुका है। नवीन शब्दों के सुझाव और आग्रह से 'लोक-वार्ता' के प्रति जमी हुई आस्था कम नहीं हो सकती। कुछ वर्ष पूर्व श्री कृष्णानन्द गुप्त के सद्प्रयत्नों से प्रकाशित 'लोक-वार्ता' त्रैमासिक ने इसकी जड़ें गहरी कर दी हैं और आधुनिक साहित्य की नवीन रचनाओं में इसका निरन्तर प्रयोग इसके अस्तित्व को स्थायित्व प्रदान करने में सफल हुआ है। अतएव सुविधा के लिए 'फोकलोर' के लिए हम 'लोक-वार्ता' शब्द ही स्वीकार करेंगे।

लोक-वार्ता एक शास्त्र है

१६वीं शताब्दी के मध्य में पाश्चात्य विद्वानों ने पिछड़ी जातियों के साहित्य के प्रति अन्वेषण कार्य आरम्भ किया। प्राचीन भारतीय वाङ्मय, भाषा-विज्ञान का विकास, भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन, पंचतन्त्र, हितोपदेश, आदि भारतीय नीति-कथा-साहित्य के महत् ग्रन्थों का अन्य देश की कथाओं से पारस्परिक सम्बन्ध, आदि की ओर विद्वानों की दृष्टि गई। ज्यों-ज्यों भाषा-विज्ञान, समाज-विज्ञान, नृतत्त्व-शास्त्र जैसे विषयों का विकास होने लगा; लोक-वार्ता को क्रमशः एक विज्ञान का रूप प्राप्त होता

---

१. राजस्थानी कहावतें (भाग—१), २००६, कलकत्ता, पृष्ठ ११
२. सम्मेलन पत्रिका (लो० सं० वि०), लोकायन और लोक-साहित्य, पृष्ठ ४३६

गया, क्योंकि उक्त विषयों की अधिकांश सामग्री लोक-वार्ता से ही सम्बन्धित है। लोक-वार्ता का स्वतन्त्र अस्तित्व है। वह एक शास्त्र है और उसका व्यवस्थित रूप से अध्ययन होना चाहिए, यह निश्चित होने में अधिक समय नहीं लगा। सन् १८५८ में विल्हेम हेरिचरी ने उक्त सभी विषयों में समन्वय स्थापित करके मनुष्य की भाषा, रहन-सहन, आचार-विचार, जाति-सम्बन्धी विशिष्टता, आदि का उनमें समावेश करने के लिए विशेष आग्रह किया। सन् १६०८ में जी० एल० गोमे ने 'फोकलोर इज ए हिस्टारिकल साइन्स' ग्रन्थ लिखकर इस बात का प्रतिपादन किया कि लोक-वार्ता इतिहास का स्वतन्त्र विषय है, जिसके अपने नियम और सिद्धान्त हैं; उसकी मान्यताओं को अन्य शास्त्रों की मान्यताओं की भाँति अपनाना चाहिए। परिणामतः विद्वानों ने पूर्णरूपेण गोमे की स्थापनाओं का स्वागत नहीं किया, किन्तु नृतत्त्व-शास्त्र के क्षेत्र में लोक-वार्ता का भी अपना महत्त्व है, यह स्वीकार कर लिया। सन् १६२० में आर० आर० मरेट का 'सायकोलॉजी एण्ड फोकलोर' ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। उसने लिखा है कि लोक-वार्ता का केवल समाज-शास्त्रीय पक्ष ग्रहण करना एकांगी दृष्टिकोण है। उसका मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अध्ययन किया जाना चाहिए, क्योंकि लोक-वार्ता निर्जीव विज्ञान नहीं है। बाह्य रूप से अध्ययन जितना आवश्यक है उतना ही उसका आन्तरिक पक्ष भी अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विषय है।

गतिशील विज्ञान

लोक-जीवन की धारा सदैव प्रवहमान है। परम्पराएँ प्रवाह-वेग में नष्ट नहीं होतीं। वे नये रूपों में प्रगट हो 'लोक' के बीच में गत्यात्मक बनी रहती हैं। युगों से अपने चारों ओर व्याप्त जन के मध्य लोक-वार्ता की गंगा बह रही है। किसी समय-विशेष में ही लोक-वार्ता का जन्म नहीं होता। वह सर्वकालीन, सर्वदेशीय और सर्वसम्मत है। शिक्षा के विकास ने इसे अवश्य प्रभावित किया है। शिक्षित जन के अतिरिक्त अशिक्षित, मूढ़

और रूढ़िवादी जन में उसका अस्तित्व गहरा है। समग्र रूप से लोक-वार्ता लोक-मात्र का विषय है। 'लोक' की अपरिमित शक्ति, साहस, मनोभाव, मान्यताएँ, विश्वास, राग-द्वेष, परम्पराएँ, अड़ाके, टोने-टोटके, अनुष्ठान, रीति-रिवाज, परम्पराएँ, गीत-कथाएँ, वेष-भूषा, आदि संयुक्त रूप से लोक-वार्ता के चेतन अस्तित्व की घोषणा करते हैं। बोटकिन ने कहा है—

"Folklore is not something far away and long ago, but real and living among us."

(लोक-वार्ता अत्यधिक दूर और अत्यन्त प्राचीन कोई वस्तु नहीं है; वह तो हमारे मध्य सत्य और जीवित है।)

क्योंकि—"Here the past has something to say to the present and bookless world to a world that likes to read about itself, concerning our basic oral and democratic culture as the root of arts and as a side-light on history."[1]

(यहाँ भूतकाल को वर्तमान से और पुस्तकहीन समाज को उस समाज से कुछ कहना है जो अपने ही विषय में पढ़ना चाहता है, जिसका सम्बन्ध हमारे मौखिक और लोकतान्त्रिक संस्कृति की मूल कलाओं के प्रारम्भिक रूपों और इतिहास के एक अंग के प्रकाश से है।)

लोक-वार्ता में लोक की परम्परागत भावनाएँ एवं चेतनागत सभी अभिव्यक्तियों का लेखा-जोखा निहित है। अतः लोक-वार्ता केवल प्राचीन, अवशेष-मात्र रूढ़ियों का अध्ययन ही प्रस्तुत नहीं करता वरन् जीवित लोक-भावों, लोकाभिव्यक्तियों एवं उनकी प्रवहमान प्रक्रियाओं का भी अध्ययन करता है।

लोक-वार्ता का विस्तार

लोक-वार्ता के विस्तार के सम्बन्ध में सी० एस० बर्न के एक उद्धरण का अनुवाद डॉ० सत्येन्द्र ने इस प्रकार किया है—"यह एक जातिबोधक

१. अमेरिकन फोकलोर (पाकेट बुक) की भूमिका, पृष्ठ १९

शब्द की भाँति प्रतिष्ठित हो गया है जिसके अन्तर्गत पिछड़ी जातियों में प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत समुन्नत जातियों के असंस्कृत समुदायों में अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज, कहानियाँ, गीत तथा कहावतें आती हैं। प्रकृति के चेतन तथा जड़ जगत् के सम्बन्ध में, भूत-प्रेतों की दुनिया तथा उनके साथ मनुष्यों के सम्बन्धों के विषयों में, जादू, टोना, सम्मोहन, वशीकरण, तावीज, भाग्य, शकुन, रोग तथा मृत्यु के सम्बन्ध में आदिम तथा असभ्य विश्वास इसके क्षेत्र में आते हैं। और भी इसमें विवाह, उत्तराधिकार, बाल्यकाल तथा प्रौढ़ जीवन के रीति-रिवाज तथा अनुष्ठान और त्यौहार, युद्ध, आखेट, मत्स्य-व्यवसाय, पशु-पालन आदि विषयों के भी रीति-रिवाज और अनुष्ठान इसमें आते हैं तथा धर्म-गाथाएँ, अवदान (लीजेण्ड), लोक-कहानियाँ, साके (बैलेड), गीत, किंवदन्तियाँ, पहेलियाँ तथा लोरियाँ भी इसके विषय हैं। संक्षेप में लोक की मानसिक सम्पन्नता के अन्तर्गत जो भी वस्तु आ सकती है वह सभी इसके क्षेत्र में है। यह किसान के हल की आकृति नहीं जो लोक-वार्ताकार को अपनी ओर आकर्षित करती है, किन्तु वे उपचार अथवा अनुष्टान हैं जो किसान हल को भूमि जोतने के काम में लेने के समय करता है, जाल अथवा वंशी की बनावट नहीं, वरन् वे टोटके जो मछुआ समुद्र पर करता है, पुल अथवा निवास का निर्माण नहीं, वरन् वह बलि जो उसके बनाते समय दी जाती है और उसको उपयोग में लाने वालों के विश्वास। लोक-वार्ता वस्तुतः आदिम मानव की मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्ति है, वह चाहे दर्शन, धर्म, विज्ञान तथा औषध के क्षेत्र में हुई हो, चाहे सामाजिक संगठन तथा अनुष्ठानों में अथवा विशेषतः इतिहास, काव्य और साहित्य के अपेक्षाकृत बौद्धिक प्रदेश में।"[१]

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं—

"लोक-वार्ता एक जीवित शास्त्र है—लोक का जितना जीवन है उतना ही लोक-वार्ता का विस्तार है। लोक में बसने वाला जन, जन की भूमि और भौतिक जीवन तथा तीसरे स्थान में उस जन की संस्कृति—इन तीन

१. ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ४—९

क्षेत्रों में लोक के पूरे ज्ञान का अन्तर्भाव होता है, और लोक वार्ता का सम्बन्ध भी उन्हीं के साथ है।"[1]

लेनिन का कथन है—"Folklore is material about the hopes and yearnings of the people."

(लोक-वार्ता जन की आशाओं और आत्म भावों (स्नेह-सम्बन्धों) से सम्बन्धित सामग्री है।)

गांधीजी के शब्दों में "Folklore is the literature of the people, but it belongs to an order of things that is passing away, if it has not already done so."

(लोक-वार्ता लोगों का साहित्य है, पर वह लुप्त होती हुई सामग्री, यदि अब तक नष्ट न हो चुकी हो, से सम्बन्धित है।)

लोक-वार्ता के विषयों की तालिका काफी लम्बी-चौड़ी है। बर्न ने उन्हें तीन प्रधान समूहों में बाँटा है। डॉ० सत्येन्द्र के अनुसार उनका वर्गीकरण इस प्रकार हो सकता है :

१. वे विश्वास और आचरण-अभ्यास जो सम्बन्धित हैं—
पृथ्वी और आकाश से,
वनस्पति जगत् से,
पशु जगत् से,
मानव से,
मनुष्य-निर्मित वस्तुओं से,
आत्मा तथा दूसरे जीवन से,
परा-मानवी व्यक्तियों से,
शकुनों-अपशकुनों, भविष्यवाणियों, आकाशवाणियों से,
जादू टोनों से,
रोगों तथा स्थानों की कला से,

---

१. पृथिवी पुत्र, पृष्ठ ८९

२. रीति-रिवाज—

सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाएँ,
व्यक्तिगत जीवन के अधिकार, व्यवसाय, धन्धे तथा उद्योग,
तिथियाँ, व्रत तथा त्यौहार,
खेल-कूद तथा मनोरंजन ।

३. कहानियाँ, गीत तथा कहावतें—

कहानियाँ (अ) जो सच्ची मानकर कही जाती हैं ।
(आ) जो मनोरंजन के लिए होती हैं ।
गीत सभी प्रकार के,
कहावतें तथा पहेलियाँ,
पद्यवद्ध कहावतें तथा स्थानीय कहावतें ।

मोटे तौर पर 'फोकलोर' (लोक-वार्ता) के विषयों का हम निम्न रूप में भी वर्गीकरण कर सकते हैं :

१. लोक-गीत, लोक-कथाएँ, कहावतें, पहेलियाँ आदि ।
२. रीति-रिवाज, त्यौहार, पूजा-अनुष्ठान, व्रत आदि ।
३. जादू-टोना, टोटके, भूत-प्रेत-सम्बन्धी विश्वास आदि ।
४. लोक-नृत्य तथा नाट्य तथा आंकिक अभिव्यक्ति ।
५. बालक-बालिकाओं के विभिन्न खेल, ग्रामीण एवं आदिवासियों के खेल आदि ।

इस प्रकार लोक-वार्ता का क्षेत्र बहुत व्यापक है और लोक-साहित्य उसका एक अंग है । जहाँ मानव के विभिन्न आचार-विचारों का स्पर्श लोक-साहित्य से होता है वहाँ तक लोक-वार्ता के अन्य विषय लोक-साहित्य के लिए सहायक होते हैं ।

लोक-साहित्य

लोक-साहित्य लोक-वार्ता का एक महत्त्वपूर्ण भाग है । इसके अन्तर्गत स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों का गद्य एवं पद्य-वाङ्मय आता है । निम्न रूप

में हम इसका विस्तार प्रस्तुत कर सकते हैं—
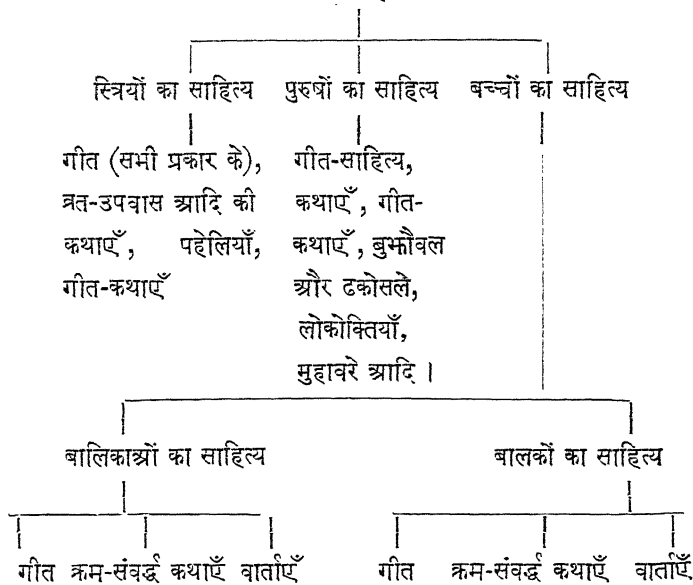
कतिपय विद्वानों का कथन है कि यह साहित्य मौखिक होता है अतः इसे 'साहित्य' की संज्ञा न देते हुए वाङ्मय कहा जाना चाहिए। महाराष्ट्र के स्वर्गीय वि० का० राजवाड़े ने 'साहित्य' की अपेक्षा 'वाङ्मय' शब्द ही अधिक पसन्द किया जिसे केवल 'लोक' के सम्बन्ध में प्रयुक्त करना उनका दृष्टिकोण था। ज्ञानेश्वरी की टीका करते हुए उन्होंने लिखा था कि प्रान्तीय, जातीय और अपभ्रष्ट लोक-कथाएँ, दन्त-कथाएँ, गीत, पवाड़े, लावनियाँ, कहावतें आदि वाङ्मय की सही-सही खोज होना अभी शेष है।[1] एक अन्य ग्रन्थ में उन्होंने लिखा है, "स्त्रियों की कहानियाँ व बालिका के सो जाने पर बैठकर गाई जाने वाली ओवियाँ 'सारस्वत' के धागे हैं। स्त्रियों के गीत,

१. ज्ञानेश्वरी, पृष्ठ १४

कहानियाँ, ओवी आदि सभी प्रकार के समाज में सभी अवस्थाओं में उपलब्ध होते हैं।"[१] इससे स्पष्ट है कि 'सारस्वत' शब्द उस कोटि में नहीं आता जिसमें कि 'वाङ्मय' लिखा गया है।

लोक-साहित्य के सभी लक्षणों को व्यक्त करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। संक्षेप में लोक-साहित्य किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा निर्मित नहीं होता। उसके पीछे परम्परा होती है जिसका सम्बन्ध समाज से भिन्न नहीं है। उसकी अभिव्यक्ति सामूहिक है। व्यक्तित्व से रहित समान रूप में समाज की आत्मा को व्यक्त करने वाली मौखिक अभिव्यक्तियाँ लोक-साहित्य की श्रेणी में आती हैं।

जहाँ तक लोक-वार्ता और लोक-साहित्य का सम्बन्ध है, लोक-साहित्य का कुछ भाग ही उसके क्षेत्र में आता है। ऐसा साहित्य भी है जो उसके बाहर है। "लोक-वार्ता में केवल वही लोक-साहित्य समावेशित होता है जो लोक की आदिम परम्परा को किसी-न-किसी रूप में सुरक्षित रखता है। इस लोक-वार्ता-साहित्य का मूल्य केवल साहित्य की दृष्टि से होता है जो नृ-विज्ञान के किसी पहलू पर प्रकाश डालती हैं। इस साहित्य को हम आदिम मानव की आदिम प्रवृत्तियों का कोष कह सकते हैं। इस प्रकार के लोक-साहित्य की व्याख्या करने में जब यह विदित हो कि उसके मूल में किसी आधिभौतिक तत्त्व का ही प्रतिबिम्ब है, कि आदिम मानव ने सूर्य और अन्धकार के संघर्ष को, अथवा सूर्य और उषा के प्रेम को अथवा साहचर्य को ही विविध रूपकों द्वारा साहित्य का रूप प्रदान कर दिया है, तो उसका यह रूप धर्म-गाथा का रूप ग्रहण कर लेता है। तात्पर्य यह है कि लोक-साहित्य का वह अंश जो रूप में प्रकटतः तो होता है कहानी, पर जिसके द्वारा अभीष्ट होता है किसी ऐसे प्राकृतिक व्यापार का वर्णन जो साहित्य-स्रष्टा ने आदिम काल में देखा था और जिसमें धार्मिक भावना का पुट भी है, वह धर्म-गाथा कहलाता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन मौखिक परम्परा से प्राप्त कथा तथा गीत-साहित्य भी लोक-साहित्य कहलाता है।"[२]

---

१. महाराष्ट्र सारस्वत (भाग दो) पृष्ठ २७६

२. ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ५—६

३

लोक-साहित्य-संकलन की परम्परा

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में पाश्चात्य देशों में लोक-साहित्य-सम्बन्धी तीव्र आकर्षण उत्पन्न हुआ। जॉन ऑब्रे (John Aubrey) द्वारा लिखी गई टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इस ओर सत्रहवीं शताब्दी में ही जिज्ञासा के भाव प्रगट हो गए थे।[१] नृतत्त्व-शास्त्र, समाज-विज्ञान, जाति-विज्ञान एवं भाषा-विषयक नवीन ज्ञान की प्रगति ने लोक-भाषाओं की मौखिक निधि के प्रति सभी देशों को समान रूप से आकर्षित किया। क्रमशः लोक में प्रचलित मान्यताएँ, रूढ़ियाँ, अन्ध-विश्वास, परम्पराएँ, धार्मिक आचार-विचार और विभिन्न भाषागत अभिव्यंजनाएँ भी अध्ययन के विषय बनते गए जो समग्र रूप से लोक-वार्ता-साहित्य के जनक कहे जा सकते हैं।

बिशप पॅरी (Perey) द्वारा धकेली गई इस विषय की चर्चा (१९वीं शताब्दी) ग्रिम द्वारा किञ्चित् वैज्ञानिक रूप प्राप्त करते हुए, कॉक्स और मेक्समूलर के वैदिक साहित्य के अध्ययन का स्पर्श पावर, टेलर के कार्यों के रूप में अवतरित हुई, और फ्रेजर के 'दी गोल्डन बो' (१८९० ई०) ग्रन्थ के रूप में अच्छी तरह से निखरी। संक्षेप में लोक-साहित्य का अध्ययन पश्चिम में विभिन्न जातियों के प्रति जिज्ञासा-वृत्ति से प्रेरित होता

१. ऑब्रे ने सन् १६८७ ई० में 'रिमेन्स ऑफ़ जैण्टिलिस्मे एण्ड जुडाइज्म' पर अपने विचार लिखे, जो सन् १८८१ में प्रकाशित हुए।

हुआ धीरे-धीरे एक अलग विज्ञान का स्वरूप धारण करता गया, जिसने न केवल पश्चिमी देशों को ही प्रभावित किया, बल्कि वहाँ से उठी हुई लहर ने सुदूर-पूर्वी देशों को भी शीघ्र ही प्लावित करना आरम्भ कर दिया।

भारतवर्ष में इस कार्य की लहर लोक-वार्ता के समग्र अंशों को छूते हुए यकायक नहीं आई। १९वीं शताब्दी के मध्य में जब अंग्रेजों ने शासकीय बागडोर पूरी तरह अपने हाथ में सँभाली, तब लोक-मानस के अध्ययन की आवश्यकतावश अंग्रेजी विद्वानों ने अपनी दृष्टि दौड़ाई। शेर-चीतों, जंगली जातियों, विशिष्ट प्रथाओं और भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का यह देश उन्हें कम आश्चर्यजनक नहीं लगा। फलस्वरूप भारतीय लोक-साहित्य के अध्ययन और संकलन की नींव पड़ी।

[१] यों तो कर्नल जेम्स टाड के 'एनल्स एण्ड एण्टिक्विटीज़ ऑफ राजस्थान' (१८२९ ई०) से भारतवर्ष में लोक-वार्ता-संकलन का श्रीगणेश मानना चाहिए, किन्तु उसमें वार्ता-तत्त्व की अपेक्षा इतिहास की सामग्री का बाहुल्य है, अतः सी० ई० गोव्हर (Gover) की पुस्तक 'फोक सांग्ज़ ऑफ सदर्न इण्डिया' (सन् १८९२) को प्राथमिकता दी जाना अनुचित न होगा, जो कि कदाचित् भारत में लोक-गीतों का प्रथम संग्रह है।

सुविधा के लिए इस दिशा में भारत-सम्बन्धी प्रकाशित ग्रन्थों को दो भागों में बाँटना उचित होगा—

(अ) हिन्दी जनपद-सम्बन्धी ग्रन्थ और (आ) अहिन्दी जनपद-सम्बन्धी ग्रन्थ।

(अ) हिन्दी जनपद-सम्बन्धी ग्रन्थ संख्या में बहुत ही कम हैं। इसके अन्तर्गत मध्य-भारतीय जातियों के सम्बन्ध में लिखे गए हिस्लप के लेख (१८६६), जिनमें कुछ मूल लोक-कथाएँ भी आई हैं, बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। हिस्लप के पश्चात् डॉ० वेरियर एल्विन के ग्रन्थ—'फोक टेल्स आफ महाकोशल', 'फोक सांग्ज़ ऑफ छत्तीसगढ़', 'फोक सांग्ज़ ऑफ माइकल हिल' (श्यामराव हिवाले सहित), 'सांग्ज़ आफ दि फारेस्ट' (हिवाले सहित), 'मिथ्ज़ ऑफ मिडिल इण्डिया', 'मुरिया एण्ड देअर घोटुल',

'दी बैंगा', 'दी अंगरिया', आदि; शरत्चन्द्र राय लिखित 'मुण्डा एण्ड देअर कन्ट्री' (१९१२), क्रिश्चियन जोन द्वारा संग्रहीत 'बिहार प्रोवर्ब' तथा आर्थर लिखित 'ब्लू ग्रव' कुछ उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

(आ) अहिन्दी जनपद-सम्बन्धी ग्रन्थों में 'ओल्ड डेक्कन डेज़'[1] (१८६८), 'डिस्क्रिप्टिव एथनालाजी आफ बैंगाल'[2] (१८७१), 'फोक सांग्ज़ ऑफ बैंगाल'[3] (१८८३), 'एन्श्यंट बैलेड्स एण्ड लीजेण्ड्स ऑफ हिन्दुस्थान'[4] (१८८२), 'लीजेण्ड्स ऑफ दी पंजाब'[5] (१८८४), 'वाइड अवेक स्टोरीज़' (१८८५), 'फोक लोर इन सदर्न इण्डिया'[7], 'इण्डियन फोकलोर'[8], 'शिमला विलेज टेल्स'[9], 'रोमाण्टिक टेल्स फ्रॉम पंजाब'[10], 'बंगाली हाउस होल्ड टेल्स'[11], 'ओरियण्टल पर्ल्स'[12], 'इण्डियन फेबल्स'[13], 'फोकलोर आफ दी तेलगूज़'[14], 'ईस्ट बैंगाल

---

१. मिस फ्रेयर
२. डाल्टन
३. लालबिहारी दे
४. तोरुदत्त
५. आर० सी० टेम्पल
६. श्रीमती स्टील
७. नटेश शास्त्री
८. आर०सी० मुकर्जी
९. श्रीमती डेकार्ट
१०. सी० स्वीन्टर्न
११. एम० कुलक
१२. शोभनादेवी
१३. रामस्वामी राजू
१४. जी० आर० सुब्राह्मिय पंतालु

बैलेड्स'[1], 'फोकलोर ऑफ बाम्बे'[2], 'फोकलोर नोट्स, ट्राइब्ज एण्ड कास्ट्स ऑफ बाम्बे'[3], आदि कुछ प्राप्य ग्रन्थ हैं। अनुमान है कि कुछ ग्रन्थ और होने चाहिएँ जो इन दिनों भारतीय पुस्तकालयों में उपलब्ध नहीं हैं।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त 'जरनल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी', 'इण्डियन ऐंटिक्वेरी', 'नार्थ इण्डिया नोट्स एण्ड क्वेरीज', 'बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी जरनल', आदि में छपित डैमेन्ट, क्रुक, जे० एच० नॉलीज, बोम्पस, बोर्डिंग, ब्लूमफील्ड, शरत्चन्द्रराय, पैंजर, ग्रियर्सन, जोगेन्थनाथ, हॉपमैन, ब्राउन, आदि के फुटकर लेखों में बहुत कुछ काम की सामग्री प्रकाशित हुई है। प्रान्तीय भाषाओं का अध्ययन भी इस दिशा में सहयोगी सिद्ध हुआ है। 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' (१६०७-८) की जिल्दों में ग्रियर्सन ने कुछ मूल गीतों को अनुवाद सहित प्रस्तुत किया है।[4]

उपर्युक्त ग्रन्थों की सूची से यह प्रगट होता है कि हिन्दी जनपदों की अपेक्षा अहिन्दी जनपदों में, भारतीयों और अभारतीयों द्वारा अधिक कार्य हुआ है। हिन्दी जनपद तो हिस्लप, एल्विन और आर्चर के ही बांटे आए। दूसरे, लोक-कथाओं की ओर अन्य विषयों से अधिक लक्ष्य दिया गया, जिससे लोक-साहित्य की अन्य दिशाएँ छूई भर जा सकी हैं। आंग्लभाषियों द्वारा लोक-साहित्य-सम्बन्धी कार्य अप्रत्यक्ष रूप से भले ही वैज्ञानिक रहा हो, पर प्रत्यक्ष यही है कि उसमें लोक-जीवन के नैकट्य की जिज्ञासा थी। ईसाई मिश्नरियों के फैलाव और धर्म-प्रचारार्थ प्रान्तीय भाषाओं के अध्ययन की आवश्यकता ने प्रान्तीय भाषाओं के मौखिक साहित्य के संकलन को भी प्रेरणा दी, इसमें शक नहीं।

२०वीं शताब्दी के आरम्भ में जातीय चेतना और भाषागत जागरूकता

---

१. दिनेशचन्द्र चन्द्रकुमार (कलकत्ता विश्वविद्यालय)

२-३. आर० ई० एन्थॉवेन

४. देखिए 'लोक-वार्ता' (जनवरी, १९४६) में प्रकाशित 'भारतीय लोक-कथाएँ और उनके अंग्रेजी संग्रह' शीर्षक लेख

आरम्भ हो गई थी। उसने आंग्लभाषियों के प्रयत्नों से प्रेरणा लेकर लोक-साहित्य के प्रति रुचि-निर्माण में योग देना आरम्भ किया। इस प्रेरणा और रुचि के पृष्ठ में राष्ट्रीय आन्दोलन और इने-गिने साहित्यिकों में निहित जनोन्मुखी स्नेह का बल भी था। कुछ अंशों में लोकमानस की सरल और भोली 'त्रिधा' अभिव्यक्तियों[1] का आकर्षण भी काम कर रहा था।

२. हिन्दी में छपित लोक-साहित्य पर प्रकाश डालने के पूर्व, अन्य प्रान्तीय भाषाओं में किये गए कार्यों पर एक नजर डालना आवश्यक है, जिनमें गुजराती, बंगला, मराठी, पंजाबी विशेष रूप से अग्रणीय रही हैं।

गुजराती में झवेरचन्द मेघाणी द्वारा सम्पादित 'रढ़ियाली रात' (३ भाग), 'चुन्दड़ी' (२ भाग) तथा 'लोक-साहित्य', रणजीतराय मेहता लिखित 'लोकगीत' और नर्मदाशंकर लालशंकर द्वारा संग्रहीत 'नागर स्त्रियों गावता गीत' उल्लेखनीय हैं। बंगला में 'खूकूमणीर छड़ा' (योगीन्द्र-नाथ सरकार), 'बंगलार व्रत', १६१६ (अबनीन्द्रनाथ ठाकुर), 'हारामणी' (महम्मद मनसूरुद्दीन) और 'बंगलार बाउल' (जासीमुद्दीन), पंजाबी में 'पंजाब दे गीत' (पं० रामशरणदास), 'गिद्धा' १६३६ (देवेन्द्र सत्यार्थी); मराठी में 'स्त्री जीवन' (साने गुरुजी), 'साहित्याचें मूलधन' (वामण चोरघड़े, 'अपौरुषेय वाङ्मय' (कमलाबाई देशपांडे), 'वर्हाड़ी लोक गीतें' (गोरे), 'लोकगीतें व लोककथा' (जोशी), 'लोक साहित्याचें लेणें' (मालती दाण्डेकर) तथा का० न० केलकर द्वारा संग्रहीत 'ऐतिहासिक पोवाडे' एवं कु० दुर्गाभागव, डॉ० सरोजिनी बाबर आदि के फुटकर लेख उल्लेखनीय हैं। नेदून्री गंगाधरन ने लगभग ५००० तेलुगु लोकगीत संकलित किये हैं। के० व्ही० जगन्नाथम् ने तमिल लोककथाओं के दो संग्रह, गोपाल पिल्लई ने मलयालम लोकगीत तथा 'मालिगे डण्डे' काप्से लिखित प्रयत्न इस दिशा में सराहनीय सामग्री हैं।

लोक-साहित्य संकलन के सम्बन्ध में जो परिस्थितियाँ अन्य प्रान्तीय

---

१. देखिए, 'आलोचना', अंक ४; 'हिन्दी-साहित्य के विकास-क्रम में लोकवार्ता की पृष्ठभूमि' शीर्षक डा० सत्यदेव का लेख, पृष्ठ २६

भाषाओं के समक्ष थीं वे ही हिन्दी के सामने रहीं। २०वीं शताब्दी के दूसरे दशक में 'सरस्वती' मासिक से प्रोत्साहन पाकर श्री मन्नन द्विवेदी के प्रयत्नों से 'सरवरिया' नामक गोरखपुर जिले के गीतों का एक छोटा सा संग्रह सन् १९१३ में प्रकाशित हुआ।

हिन्दी में लोक-साहित्य-संकलन के उद्योग का यहीं से प्रथमोत्थान आरम्भ होता है।[1] उन्हीं दिनों 'सरस्वती' में सन्तराम बी० ए० के 'पंजाबी लोकगीत' प्रकाशित हुए थे, (जिनका संवर्द्धित संस्करण १९२५ में 'पंजाबी गीत' के नाम से प्रकाशित हुआ) जिनसे पं० रामनरेश त्रिपाठी निश्चय ही प्रभावित हुए बिना न रहे। सन् १९२६ के पश्चात् वे बड़ी लगन से इस क्षेत्र में घुस पड़े। परिणामस्वरूप 'कविता-कौमुदी' (पाँचवाँ भाग), 'हमारा ग्राम-साहित्य' तथा 'मारवाड़ी गीत-संग्रह' पुस्तकों का निर्माण हुआ। 'कविता-कौमुदी' की भूमिका में ग्राम-गीत-संग्रह के कार्य में आने वाले कष्टों का उल्लेख त्रिपाठीजी ने रोचक ढंग से किया है। अपना कार्य आरम्भ करने के पूर्व 'सरस्वती' में कुछ गीतों को लेकर उन्होंने दो लेख लिखे थे। 'चाँद' मासिक का भी उस समय कम सहयोग न रहा। त्रिपाठीजी की लगन और तत्परता का अनुमान उनके एक पद्य-पत्र से कीजिए—

मैं विरही हूँ गीत का घर मजनूँ का भेस।
झोली डाले गीत की घूम रहा हूँ देस॥
अन्न वस्त्र लेता नहीं, नहीं विभव की चाह।
मुझे चाहिए गीत वह, जिसमें हो कुछ आह॥[2]

---

१. बताया जाता है कि बांकीपुर निवासी लाला खंगबहादुर मानव ने सन् १८८४ में 'सुधा बूँदा' नामक गीतों का कोई संग्रह तैयार किया था जो लेखक के देखने में नहीं आया। यदि उक्त संग्रह उपलब्ध हो जाय तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अंग्रेजी के कार्यों के समानान्तर हिन्दी में भी लोक-साहित्य-संकलन का कार्य आरम्भ हो गया था।

२. 'कविता कौमुदी' (५वां भाग) की भूमिका, पृष्ठ ३३

त्रिपाठीजी की भाँति १९३० के पश्चात् श्री देवेन्द्र सत्यार्थी भी गीतों की खोज में जुट गए। त्रिपाठीजी का क्षेत्र संकुचित और तनिक वैज्ञानिक रहा, पर सत्यार्थीजी का विस्तृत, छितराया हुआ और भावना-प्रधान। उन्होंने भारतीय ग्रामों में दूर-दूर तक यात्रा की, गीतों का संकलन किया; उन्हीं गीतों पर 'माडर्न रिव्यू', 'रूरल इण्डिया' और हिन्दी-उर्दू के पत्रों में क्रम से लिखते रहे। सत्यार्थीजी के कठोर परिश्रम और प्रकाशन का कुछ ऐसा प्रभाव रहा कि ३० दिसम्बर, १९४७ में लेखक से वार्तालाप करते हुए गांधीजी ने कहा था—"पचास से अधिक भाषाओं के कोई तीन लाख गीत संग्रह कर डालना कोई छोटा काम नहीं है। तुम्हारे बीस वर्ष इसी काम में खर्च हो गए।"[1] गांधीजी के इस कथन से यही संकेत मिलता है कि श्री सत्यार्थी सन् १९२७ से ही गीतों को जुटाने में व्यस्त हो गए थे और प्रतिदिन औसतन ४१-४२ गीत एकत्र करते रहे।

लोक-साहित्य-संकलन के प्रथमोत्थान की अवधि सन् १९४२ तक समझनी चाहिए। इस बीच पत्र-पत्रिकाओं में रसीले-चटकीले लोकगीतों की, शृंगारी और विरही भावनाओं के प्रति, 'आह' और 'वाह' की प्रवृत्तियों से बोझिल लेखों का प्रकाशन होता रहा। राजस्थान और मारवाड़ अवश्य ही इस आन्दोलन के प्रति जागरूक हो गए थे। सूर्यकरण पारीक के प्रयत्नों से राजस्थानी गीतों का संकलन एक सुलझी हुई पद्धति से आरम्भ हो गया था। तो भी प्रमुख रूप से प्रथमोत्थान रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता कौमुदी' और देवेन्द्र सत्यार्थी के रोमानी लेखों से प्रभावित होकर, केवल लोक-गीतों के संकलन तक ही सीमित रहा।

सन् १९४२ के पश्चात्, हिन्दी में अपने इस 'मूलधन' के प्रति एक नई जागरूकता उत्पन्न हुई, जिसके पीछे पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की विकेन्द्रीकरण योजना', तथा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की 'जनपद कल्याणी योजना' प्रेरणादायी सिद्ध हो रही थीं। राहुल सांकृत्यायन लिखित

---

१. देवेन्द्र सत्यार्थी, 'धरती गाती है', आमुख—पृष्ठ ३

'मातृभाषाओं का प्रश्न' लेख[1] तथा शिवदानसिंह चौहान की प्रान्तीय भाषाओं पर निबन्ध-रूप में लिखी गई रिपोर्ट[2], अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के नाते कम प्रभावशाली न रहे। इस वैचारिक ऊहापोह का परिणाम यह हुआ कि कुछ विद्वान् लोक-वार्ता-साहित्य के संकलन के विषय में सोचने लगे, कि किस प्रकार काम किया जाय। कुछ ने ये भी प्रश्न उपस्थित किये कि लोक-साहित्य अथवा लोकवार्ता-साहित्य के संकलन से क्या होगा, तथा साहित्य को उससे किस प्रकार के लाभ की सम्भावना है ? किन्हीं अंशों में प्रथम प्रश्न की समस्या आज भी बनी हुई है, जिसका स्पष्टीकरण हिन्दी-लेखकों की ओर से नहीं हुआ है। काम करने का प्रश्न तो साधनों के अभाव में आगे भी बना रह सकता है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने १९३७ में लोक-साहित्य-संकलन के लिए क्षेत्र चुने जाने के विषय में साधारण तौर पर योजना प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

(१) भाषा ऐसी हो, जिसका क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा हो।
(२) जिस भाषा के (कई शताब्दियों के अन्तर से) अनेक रूप उपलब्ध हों, जिससे कि तुलनात्मक अध्ययन में पूरी मदद मिल सके।
(३) जहाँ भाषा-तत्त्वज्ञ तथा उस भाषा के मर्मज्ञ भी मिल सकें।
(४) जहाँ की स्थानीय संस्थाएँ इसके लिए तैयार हों।
(५) जहाँ उत्साही लेखक और कार्यकर्ता सुलभ हों।
(६) जहाँ काम जल्दी समाप्त किया जा सकता हो।[3]

दूसरे उत्थान में लोक-संस्कृति के अध्ययन और लोक-साहित्य के संकलन के उद्देश्य को लेकर कुछ जनपदीय संस्थाओं का तेजी से निर्माण हुआ। ब्रज में 'ब्रजसाहित्यमंडल', गढ़वाल में 'गढ़वाली साहित्य-परिषद्', बघेलखण्ड में 'रघुराज साहित्य-परिषद्', बुन्देलखण्ड में 'लोक-वार्ता साहित्य-परिषद्', भोजपुर में 'भोजपुरी लोक-साहित्य-परिषद्', राजस्थान में

१. 'हंस', सितम्बर १९४३
२. देखिए, शिवदानसिंह चौहान की पुस्तक, 'प्रगतिवाद'
३. पुरातत्व निबन्धावली—'हिन्दी की स्थानीय भाषा'

'भारतीय लोक-कला-मण्डल' तथा मालवा में 'मालव लोक-साहित्य-परिषद्' आदि कुछ इसी प्रकार की संस्थाएँ हैं। द्वितीय उत्थान का काल अभी समाप्त नहीं कहा जा सकता। अतः प्रथमोत्थान की अपेक्षा अनेक बहुमुखी प्रयत्नों की दृष्टि से द्वितीय उत्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है। सुविधा के लिए उक्त काल के प्रयत्नों पर निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकाश डाला जा सकता है—

(क) लोकगीतों का संकलन; (अ) शास्त्रीय अनुशीलनयुक्त लोकगीतों के संग्रह, (आ) भावनात्मक ढंग से लोकगीतों पर लिखे लेखों के संग्रह;

(ख) लोक-कथाओं का संकलन;

(ग) लोकोक्तियाँ एवं कहावतों के संग्रह;

(घ) आलोचना-प्रधान लोक-वार्ता-सम्बन्धी प्रबन्ध अथवा ग्रन्थ;

(ङ) लोक-वार्ता-सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाएँ; और

(च) फुटकर प्रयत्न।

(क) (अ) हिन्दी प्रदेश की वर्तमान बोलियों में, द्वितीयोत्थान के अर्द्ध शतक में, प्रमुख रूप से मारवाड़ी, राजस्थानी, भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी, निमाड़ी, मैथिली, बुन्देलखण्डी, मालवी आदि बोलियों के अच्छे गीत-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इनसे भिन्न बोलियों के भी कुछ गीत-संग्रह हो चुके हैं, किन्तु प्रकाशकों के अभाव में उनका प्रकाशन नहीं हो पा रहा है। प्रकाशित संग्रहों की तालिका इस प्रकार होगी—

मारवाड़ी : १. 'मारवाड़ी गीत-संग्रह' (खेताराम माली), २. 'मारवाड़ी गीतमाला' (मदनलाल वैश्य), ३. 'मारवाड़ी गीत' (निहालचन्द वर्मा), ४. 'मारवाड़ी स्त्री-गीत-संग्रह' (ताराचन्द ओझा), ५. 'मारवाड़ के ग्राम-गीत' (जगदीशसिंह गेहलोत)।

राजस्थानी : १. 'राजस्थान रा दूहा' (स० नरोत्तम स्वामी), २. 'राजस्थान के लोक-गीत' (सूर्यकरण पारीक, ठाकुर रामसिंह), ३. 'राजस्थान के ग्रामगीत' (नरोत्तम स्वामी)।

भोजपुरी : १. 'भोजपुरी ग्राम-गीत' (कृष्णदेव उपाध्याय), २. 'भोजपुरी लोकगीतों में करुण-रस' (दुर्गाशंकर प्रसादसिंह), ३. 'भोजपुरी ग्राम-गीत' (आर्चर)।

छत्तीसगढ़ी : 'छत्तीसगढ़ी लोक-गीत' (श्यामचरण दुबे)।

निमाड़ी : 'निमाड़ी ग्राम-गीत' (रामनारायण उपाध्याय)।

मैथिली : 'मैथिली लोकगीत' (रामइकबालसिंह 'राकेश')।

बुन्देलखंडी : 'इसुरी की फागें' (स० कृष्णानन्द गुप्त)।

मालवी : 'मालवी लोक-गीत' (श्याम परमार)।

कौरवी : 'आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीत' (राहुल सांकृत्यायन)।

उक्त संग्रहों में प्रामाणिक गीतों के अतिरिक्त, भूमिकाओं में सम्पादकों द्वारा लिखे गए लोकगीत-सम्बन्धी विवेचन पठनीय साहित्य है। 'भोजपुरी ग्राम-गीत' की भूमिका श्री बलदेव उपाध्याय ने लगभग ४५ पृष्ठों में लिखी है, जिसमें गीतों के परिचय, भारतीय और पाश्चात्य परम्पराएँ, गाने के ढंग, प्रकार, भौगोलिक आधार आदि पर प्रकाश डालते हुए अन्त में भोजपुरी व्याकरण तक की रूप-रेखा दी है। इस प्रकार 'राकेश' भी अपने संग्रह की भूमिका में लोकगीत की तह तक पहुँचे हैं।[1] 'राजस्थानी लोकगीत' यद्यपि छोटा संग्रह है, पर सूर्यकरण पारीक ने ३२ पृष्ठों में राजस्थानी गीतों का विवेचन-विश्लेषण अत्यन्त ही वैज्ञानिक पद्धति से किया है। गीतों की तुलनात्मक टिप्पणियाँ और उपमानों की तालिका, उनके गीतों में गहरी पैठ के द्योतक हैं। 'इसुरी की फागें' बुन्देलखण्ड के एक लोक-कवि की प्रचलित फागों का संग्रह है। कृष्णानन्द गुप्त द्वारा लोक-कवि के जीवन और रचनाओं पर प्रकाश डालने वाली यह हिन्दी-लोकगीत-साहित्य में प्रथम पुस्तक है। उक्त संग्रहों के प्रति समग्र रूप से यही कहना उचित होगा कि उनमें यद्यपि लोकवार्ता का वैज्ञानिक स्वरूप

१. 'राकेश' जी ने संग्रह में कुछ भोजपुरी गीतों को मैथिली रूप देने की चेष्टा की है, जिससे गीतों के मूल रूप नष्ट हो गए हैं। अतएव वैज्ञानिक दृष्टि से यह प्रयास उचित नहीं कहा जा सकता।

पूरी तरह निखरा नहीं, तथापि उनके द्वारा भावी अध्ययन की नींव अवश्य तैयार हो गई है।

(आ) भावनात्मक ढंग से लिखे गए लोकगीत-सम्बन्धी लेख-संग्रहों के अन्तर्गत केवल देवेन्द्र सत्यार्थी लिखित १. 'धरती गाती है' (१९४८), २. 'धीरे बहो गंगा' (१९४८), ३. 'बेला फूले आधी रात' (१९४९) और ४. 'बाजत आवे ढोल' (१९५२) पुस्तकें आती हैं। इस दिशा में सत्यार्थी अकेले हैं। यों तो उन्हें हमने प्रथमोत्थान का व्यक्तित्व माना है, पर पूर्व संचित उनकी लोक-साहित्य-सम्बन्धी सामग्री का प्रकाशन द्वितीयोत्थान काल में हुआ है। अतः मस्तिष्क में किसी गीत की ध्वनि की भाँति उनका प्रभाव बना हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि अपनी भाषा और शैली से सत्यार्थीजी ने हिन्दी के एक बड़े वर्ग को लोकगीतों के प्रति आकर्षित किया है। गीतों के प्रति भावना-प्रधान पहुँच होते हुए, तुलनात्मक दृष्टिकोण का संकेत तथा लोकवार्ता सम्बन्धी प्रकाशित सामग्री का यथोचित ज्ञान, और फिर उसका काव्योभासित समन्वय का उत्कृष्ट स्वरूप हमें उनके लेखों में मिलता है। निश्चय ही उनके संग्रहों में मूल गीतों की संख्या कम है। यद्यपि गीतों के लिए उन्होंने अनेक प्रान्तों में भ्रमण किया है, पर ऐसा प्रतीत होता है कि कवि होने के नाते उन्होंने अपने लिए केवल गीतों की मधुर पंक्तियाँ ही चुनी हैं, अपनी शैली को उन्होंने स्वतन्त्र 'निजी चर्चा की शैली'[1] कहा है। इसलिए वह साधारण पाठकों को तत्काल छू लेती है। सत्यार्थीजी का एक महत्त्वपूर्ण कार्य गीतों के अनुवाद-सम्बन्धी शैली के विषय में है। उन्होंने स्वीकार किया है—"अनुवाद भी एक कला है। सचमुच यह बड़ी जिम्मेदारी का काम है। न एक शब्द ज्यादा, न एक शब्द कम; पंक्तिवार अनुवाद; यही है अन्तर्राष्ट्रीय लोक-गीत विशेषज्ञों की शैली।"

"जहाँ भी मैं गया, मैंने किसी-न-किसी दोभाषिए की सहायता से गीतों का अनुवाद साथ-साथ तैयार करने का क्रम जारी रखा—प्रत्येक शब्द का

---

१. 'धरती गाती है', आमुख—पृष्ठ ६।

अनुवाद, प्रत्येक कड़ी का अनुवाद···अनुवाद करते-करते मैं इसी प्रयत्न में क्रमशः अधिक-से-अधिक सफल होता चला गया।"

सत्यार्थीजी अपने कुछ लेखों में लोकगीत-संग्रह के अनुभव भी व्यक्त करते गए हैं, जिससे गीतों के उल्लेख के अतिरिक्त उनमें कहानी-तत्त्व का आभास भी मिलता जाता है।

(ख) लोक-कथाओं के संकलन का प्रयास हिन्दी में गीत-संकलन की अपेक्षा बहुत ही कम हुआ है। डॉ० वेरियर एलविन ने अपने ग्रन्थ 'फोकटेल्स ऑफ़ महाकोशल' की भूमिका में प्रसिद्ध नृशास्त्रवेत्ता नार्मन ब्राउन का अनुमान व्यक्त किया है कि भारत तथा उसके पड़ोसी देशों में लगभग ३००० लोक-कथाएँ लिपिबद्ध होकर प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें पंजाब, संथाल परगना और मध्यभारत से लगभग ६०० कथाएँ प्राप्त की गई हैं। डॉ० एलविन ने अपने संग्रह 'फोकटेल्स ऑफ महाकोशल' में १५० तथा अन्य रचनाओं में ५५ कथाएँ संकलित की हैं। ब्लूम फील्ड का तो कहना है कि भारतीय लोक-कथाओं में संस्कृत-साहित्य की ही गाथाएँ ध्वनित होती हैं। उन्होंने आगे बढ़कर कहा है, "जिसे हम भारतीय कथा-साहित्य कहते हैं, वह वास्तव में एशियाई कथा-साहित्य—तिब्बती, मंगोली, सुदूर भारतीय, चीनी साहित्य—ही है।" अंग्रेजी विद्वानों द्वारा लोक-कथाओं पर जो कार्य हुआ है, वह कुछ अधिक होकर भी प्रामाणिक कम है। इसके कारण अनेक हैं। मुख्य कारण तो उनके दृष्टिकोण का ही है जो मनोरञ्जन और रोमांच तक सीमित रहा।

वास्तव में यह दिशा उन्हीं लोगों के लिए अधिक सुलभ है जो अपनी सीमाओं की बोलियों और वहाँ के व्यक्तियों की आत्मा से परिचित हों। इस दृष्टि से हिन्दी में सबसे ईमानदार प्रयास पं० शिवसहाय चतुर्वेदी का है। उन्होंने बुन्देलखण्ड की लोक-कथाओं का संग्रह तैयार किया, जिसमें स्थान और वातावरण के साथ लोक-कथाओं की 'स्पिरिट' नष्ट न होने दी। इसी प्रकार राजस्थानी और मालवी लोक-कथाओं के संग्रह उल्लेखनीय हैं।

सामान्यतः हिन्दी की बोलियों में अभी हिन्दी के माध्यम से काम होना

शेष है। वैज्ञानिक अनुशीलन की अपेक्षा सहित वैदिक संस्कृत, अपभ्रंश, पाली, आसामी, तिब्बती, चीनी आदि में फैले हुए लोक-कथाओं के सूत्रों को खोजना उतना ही महत्त्वपूर्ण है जो बिना मूल कथाओं के (व्यर्थ कतर-ब्योंत रहित) लिपिबद्ध किये जाने से पूर्ण नहीं हो सकती।

कथाओं की श्रेणी में गीत-कथाएँ भी आती हैं, जिनका संकलन साधारणतया नहीं के बराबर है। अतः सम्बन्धित व्यक्तियों की लगन से इस दिशा में काम जब तक न होगा तब तक आंग्लभाषी संग्रहों से उत्पन्न भ्रान्तियाँ नष्ट नहीं होने की।

(ग) लोकोक्तियों के वैज्ञानिक अध्ययन की नींव हिन्दी में किसने डाली, यह विवादास्पद प्रश्न है। फिर भी कन्हैयालाल सहल के लेखों में सधा हुआ वैज्ञानिक दृष्टिकोण मिलता है। लोकोक्तियों के अन्तर्गत मुहावरे, अनुभव-प्रसूत सांकेतिक शब्द-योजना और पहेलियाँ आती हैं। हिन्दी-भाषियों के लिए जो मुहावरा-कोष उपलब्ध है, उसमें प्रान्तीय बोलियों की अनेक लोकोक्तियों का समावेश हुआ है। फेलन की 'डिक्शनरी ऑफ हिन्दुस्तानी प्रोवर्ब्स' में भी कुछ बिहारी और भोजपुरी लोकोक्तियों के अतिरिक्त अन्य बोलियों की लोकोक्तियों को भी स्थान दिया गया है। वैसे तो हिन्दी के अधिकांश मुहावरे लोकोक्तियाँ प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों की सम्पत्ति हैं, पर उन्हें मूल रूप में संकलित करना अनेक कारणों से आवश्यक है। संस्कृत, पाली, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं में आधुनिक लोकोक्तियों के अनेक प्रारम्भिक स्वरूप विद्यमान हैं। यह आवश्यक है कि जहाँ लोकोक्तियों के मूल की खोज की जाय, वहाँ प्रारम्भ से अब तक के उनके भिन्न-भिन्न रूपों का पता लगाकर उनका मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन किया जाय।

हिन्दी में जनपदीय लोकोक्तियों की प्रकाशित पुस्तकें केवल पाँच ही हैं—१. 'मेवाड़ की कहावतें', १ला भाग (लक्ष्मीलाल जोशी), २. 'मालवी कहावतें' (रतनलाल मेहता), ३. 'राजस्थानी भीलों की कहावतें', १ला भाग (मेनरिया), ४. 'राजस्थानी कहावतें' (कन्हैयालाल सहल), और ५. 'राजस्थानी कहावताँ' (कलकत्ता, २००६)।

अंग्रेजों ने भी इस ओर ध्यान दिया था। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'बेला फूले आधी रात' में पंजाबी मुहावरों पर एक अच्छा निबन्ध दिया है। पहेलियों के संकलन का प्रयास सन्तोषजनक नहीं है। रामनरेश त्रिपाठी ने 'कविता कौमुदी' (५वाँ भाग)में उत्तर प्रदेश की कुछ पहेलियाँ दी हैं। वर्षा, आँधी, पानी, खेती आदि के सम्बन्ध में घाघ और भड्डुरी, तथा अन्य जन-कवियों द्वारा प्रचलित की गई लोकोक्तियों का एक नया संग्रह त्रिपाठीजी ने हाल ही में तैयार किया है। पं० गणेशदत्त 'इन्द्र' ने पौष, आषाढ़, श्रावण, भादों तथा ग्रहों आदि सम्बन्धी एक लेख-माला सन् १९४१ में 'जयाजी प्रताप', ग्वालियर में लिखी थी, जिसमें लोकोक्तियों का एक खासा समावेश हो गया है। 'मालवी लोकोक्तियाँ' एक नया संग्रह पं० सूर्यनारायण व्यास के सम्पादकत्व में छप रहा है।

लोकोक्तियाँ और मुहावरे जब संक्रान्तिकाल से गुजरते हैं, तब उनके रूपों में परिवर्तन हो जाना असम्भव नहीं। परिस्थिति की मार से कई कहावतें जो किसी वर्ग तक सीमित होती हैं, नष्ट हो जाती हैं। नई बातों के आ जाने से मनुष्य के स्वभाव के साथ कहावतों और लोकोक्तियों के उपकरण बदलने लगते हैं, तभी उनका महत्त्व इतिहास और काल की दृष्टि से बढ़ जाता है।

पहेलियाँ, जिन्हें संस्कृत में 'ब्रह्मोदय' कहा जाता है, अत्यन्त ही अल्प मात्रा में संकलित की गईं, यह स्पष्ट है। डॉ० वेरियर एलविन और आर्चर ने सन् १९४३ में 'मेन इन इण्डिया' में एक लेख लिखा था[1], जिसका महत्त्व उनके सुलझे हुए वैज्ञानिक दृष्टिकोण के नाते हिन्दी में किये गए प्रयत्नों की अपेक्षा आगे बढ़ा हुआ है। डॉ० सत्येन्द्र ने पहेलियों के विकास पर अपने विचार व्यक्त किए हैं—"भारतवर्ष में तो वैदिक काल से 'ब्रह्मोदय' का चलन मिलता है। 'अश्वमेध यज्ञ' में तो ब्रह्मोदय' अनुष्ठान का ही एक भाग था। अश्व की वास्तविक बलि से पूर्व, होतृ और ब्राह्मण

---

१. 'एन इण्डियन रिडल बुक', अंक ११, संख्या ४, "नोट ऑन दी यूज़ आफ़ रिडल्स इन इण्डिया"

ब्रह्मोदय पूछते थे। इन्हें पूछने का केवल इन दो को ही अधिकार था। इस प्रकार पहेलियों का प्रयोग भारतवर्ष में ही नहीं, अन्य देशों में भी मिलता है।[1]

(घ) लोक-साहित्य-सम्बन्धी वैज्ञानिक दृष्टिकोण व्यक्त करने वाले (दिशा-दर्शक), हिन्दी में केवल डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित 'पृथिवी पुत्र' और डॉ० सत्येन्द्र लिखित 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन' दो ही ग्रन्थ हैं। यों राहुल सांकृत्यायन के कतिपय फुटकर लेखों में मार्ग-दर्शन की अधिकांश सामग्री मिलती है। यह दिशा ऐसी है जिसके प्रति सबसे कम ध्यान दिया गया। इसका मुख्य कारण मूल साहित्य के संकलन का अभाव है। जो काम पश्चिम में ग्रिम ने किया, वही हमारे यहाँ डॉ० वासुदेव-शरण और डॉ० सत्येन्द्र ने किया है, यह मानना अत्युक्तिपूर्ण न होगा।

(ङ) जनपदीय साहित्य के उत्थान के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहने वाली पत्रिका 'मधुकर' श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में वर्षों से सचेष्ट रही। उसमें प्रायः बुन्देलखण्ड के लोक-साहित्य सम्बन्धी सामग्री छपती रही। 'मधुकर' के माध्यम से टीकमगढ़ के आसपास के प्रान्तों का बहुत सा लोक-साहित्य संकलित किया जा सका। श्री चतुर्वेदी अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों और अन्य लेखों में 'अन्तर्जनपदीय परिषद्' की स्थापना पर बराबर जोर देते रहे, जिससे इस दिशा में वैचारिक सूत्र मिल गया। ब्रजमण्डल से 'ब्रज भारती' का प्रकाशन हुआ। प्रारम्भ में अवश्य ही वह लोकवार्ता-साहित्य के प्रति उदासीन रही, पर शीघ्र ही वैचारिक आन्दोलन के प्रभावस्वरूप ब्रज के लोक-साहित्य को स्थान देने लगी। सन् १९४५ में श्री कृष्णानन्द गुप्त के सम्पादकत्व में लोकवार्ता-परिषद्, टीकमगढ़ द्वारा एक अत्यन्त ही श्रेष्ठ त्रैमासिक पत्रिका 'लोकवार्ता' प्रकाशित होने लगी। छः अंकों के बाद पत्रिका का प्रकाशन बन्द हो गया। किन्तु इस बीच अपने वैज्ञानिक, ठोस और सुव्यवस्थित प्रणाली के कारण पत्रिका अपने ढंग की महत्त्वपूर्ण वस्तु बन गई। इस पत्रिका द्वारा लोकवार्ता-

१. 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन', पृष्ठ ५२०–२१

सम्बन्धी कार्य करने वाली कुछ पत्रिकाएँ आगे आईं। राजस्थान से 'शोध पत्रिका' (उदयपुर), और 'राजस्थान भारती' (जयपुर) दो पत्रिकाएँ इतिहास, साहित्य और लोकवार्ता-प्रकाशन के उद्देश्य को लेकर आजकल बराबर प्रकाशित हो रही हैं। दोनों पत्रिकाएँ अपने उद्देश्यों के प्रति ईमानदार और सचेष्ट हैं। इसी वर्ष हिन्दी जनपद परिषद् का 'जनपद' त्रैमासिक का प्रकाशन वैज्ञानिक और प्रौढ़ सामग्री से इस दिशा को पुष्ट करने में योग देने लगा। उसका उल्लेख भुलाया नहीं जा सकता।

(च) फुटकर प्रयत्नों के अन्तर्गत मासिक, साप्ताहिकों और त्रैमासिक में छपने वाले लेख हैं, जिनमें अधिकतर अभी भी 'आह' और 'वाह' की ध्वनि मिल जाती है। यद्यपि इन छुटपल्ले प्रयत्नों में सार कम है तथापि प्रचारात्मक दृष्टि से इस बहाने लोक-साहित्य-संकलन का आन्दोलन आगे ही बढ़ता है। अधिकांश लेख छपित सामग्री पर ही लिखे जा रहे हैं। मासिकों और त्रैमासिकों में प्रकाशित होने वाला साहित्य अवश्य उत्तम कोटि का होता है। ऐसी पत्रिकाओं में 'नया समाज', 'हंस', 'सरस्वती', 'विक्रम', 'कल्पना', 'राष्ट्रभारती', 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी पत्रिका', 'आलोचना' आदि उल्लेखनीय हैं।

आन्दोलन की गति के साथ ज्यों-ज्यों इस युग के साहित्यिकों का ध्यान इस ओर खिंचा, त्यों-त्यों लेखकों और आलोचकों में लोक-साहित्य की महत्ता बखान करने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी—कुछ 'फैशन' की दृष्टि से और कुछ 'सच्चाई' के नाते। प्रान्तीय लोक-साहित्य परिषदें भी इस स्थिति को लाने में सहायक हुईं।

(३) आज से २० वर्ष पूर्व अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने बम्बई में एक प्रस्ताव द्वारा प्रान्तीय भाषाएँ और उसके साहित्य की सुरक्षा के लिए संकेत किया था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने समय-समय पर प्रस्तावों द्वारा इस ओर आगे बढ़ने की प्रवृत्ति प्रगट की और नाम के लिए दो-तीन संग्रहों का प्रकाशन करके काम रोक दिया। यह परम्परा अपनी गति में तेजी नहीं पकड़ सकी। साधनों के अभाव में प्रामाणिकता की कमी भी

बहुत-कुछ बनी रही। कुछ संग्रहों को छोड़कर शेष ग्रन्थ या तो किसी छोटी-मोटी संस्था द्वारा प्रकाशित हुए अथवा फिर व्यक्तिगत प्रयत्नों का परिणाम बने। अतएव निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि हमारा संकलित लोक-साहित्य कहाँ तक प्रामाणिक है। अब तक के समस्त प्रयत्न भारत जैसे विशाल देश के लिए अत्यन्त ही मामूली हैं। निस्सन्देह व्यक्तिगत और सामूहिक श्रम का कार्य होते हुए भी इस परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए आर्थिक संकटों का निवारण प्रथम वस्तु है।

४

अपौरुषेय वाङ्मय

'अपौरुषेय वाङ्मय' भारतीय भाषाओं में प्रायः उस साहित्य के लिए रूढ़ार्थी प्रयोग है, जो साधारण मानव-कृत नहीं; अर्थात् वह साहित्य जिसका सृजन देवताओं द्वारा हुआ है। आर्यों के आदि ग्रन्थ इसी के अन्तर्गत आते हैं, किन्तु यहाँ उक्त आशय की दृष्टि से 'अपौरुषेय वाङ्मय' का प्रयोग नहीं किया जा रहा है। कुछ वर्ष पूर्व मराठी साहित्य की प्रौढ़ा लेखिका कमला बाई देशपाण्डे ने 'अपौरुषेय वाङ्मय' का प्रयोग उस लोक-साहित्य के लिए किया जो पुरुषों द्वारा रचित नहीं, वरन् जिसके सृजन का सम्पूर्ण श्रेय स्त्रियों को प्राप्त है। ऐसा साहित्य स्त्रियों के जीवन में निरन्तर उपयोगी है और इसके अभाव में युगों से चले आते हुए उसके जीवन-क्रम में भारी व्यवधान उपस्थित होने की सम्भावना है। इस प्रकार का साहित्य (विशेष रूप से लोक-साहित्य) भारतीय-अभारतीय सभी भाषाओं और बोलियों में विद्यमान है।

स्त्रियों ने अपनी वृत्तियों के अनुरूप, सहज स्फूर्तिवश अनुष्ठानिक, औपचारिक एवं मनोरञ्जनार्थ साहित्य का निर्माण किया है। उसके सृजन का कोई निश्चित समय नहीं। वह परम्परागत 'श्रुति' सम्पत्ति है जिसमें प्रत्येक अवस्था में स्त्रियों ने अपनी ओर से कुछ योग दिया है।

समग्र लोक-साहित्य को यदि पुरुष-वाङ्मय और स्त्री-वाङ्मय इन दो

स्थूल वर्गों में विभक्त करें तो निश्चय ही स्त्री-वाङ्मय (अपौरुषेय) का भण्डार पुरुष-वाङ्मय की अपेक्षा अधिक बड़ा होगा। वह ऐसा साहित्य है जिसे 'अक्षरों' का बन्धन नहीं है, जो पुस्तकों और ग्रन्थों में स्याही द्वारा स्थिर नहीं किया गया है, जिसके रचयिताओं का किसी को ज्ञान नहीं है और फिर जीवन में जिसके बिना स्त्रियों के विभिन्न आचार-विचार और अनुष्ठानों को गति नहीं है। वह स्त्रियों की वाणी द्वारा पोषित है। वह उनके हृदय पर कोरा गया है। उसे परम्परात्मक संस्कारों का स्पर्श प्राप्त है, जिसके द्वारा युगों पूर्व की नारी अपनी वेदना, हर्ष, विषाद, आनन्द, उद्वेग, उत्साह, संयोग, वियोग, प्रताड़ना, घृणा, ग्लानि, आदि से गुम्फित भावों को आज की नारी तक 'वाचिक' अभियान द्वारा पहुँचा रही है। अपौरुषेय वाङ्मय रूपी वृक्ष की जड़ें भूतकाल में फैली हुई हैं, पर वर्तमान में अवस्थित बाह्य शाखाएँ, पत्र एवं पुष्पों के भीतर एक सामान्य रस का सञ्चार हो रहा है। यह श्रुति-परम्परा के आश्रय से ही प्राप्त हुआ है। मानव-सभ्यता के विकास के साथ-साथ स्त्रियों का यह साहित्य क्रमशः वृद्धि पाने लगा। यदि हम उसे वेदों के पूर्व ही आरम्भ किया हुआ वाङ्मय मान लें तो अत्युक्ति न होगी। यद्यपि आज हमें उस काल के साहित्य का ज्ञान नहीं, किन्तु उपलब्ध होने वाले साहित्य में अवशिष्ट स्त्रैण प्रवृत्ति का दिग्दर्शन तत्कालीन नारी के मनोवेगों से भिन्न कदापि न होगा। अपने निबन्ध में कमला बाई देशपाण्डे ने मराठी भाषा की दृष्टि से इस बात पर विचार किया है। अपौरुषेय वाङ्मय का विषय-विस्तार कहाँ तक है इस पर भी उन्होंने चर्चा की है। समग्र स्त्री-साहित्य को उन्होंने दो प्रकार से वर्गीकृत किया है :

गद्य और पद्य की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गीकरण है :
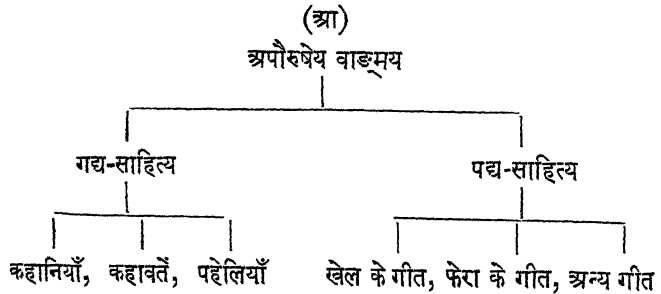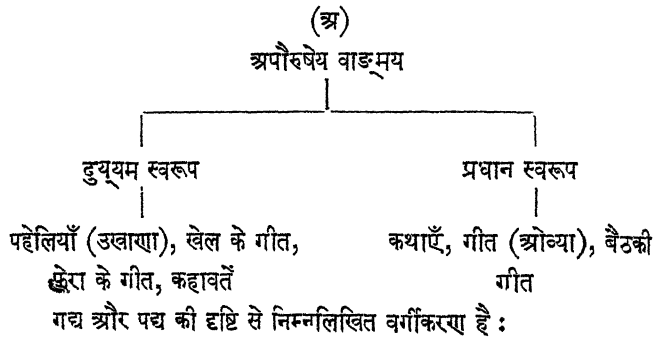
उक्त वर्गीकरण एक भाषा-विशेष की दृष्टि से किया गया है। समग्र रूप से भारतीय गीतों में अपौरुषेय वाङ्मय का विस्तार काफी बढ़ा है। जन्म एवं बालक से सम्बन्धित सोहर, सोहिली, जच्चा, पलना, ललना, लोरियाँ, जातके गीत, सावन के गीत, झुलने, नचारी, सम्मरि, समदाउनी, झूमर, छठ के गीत, देवी-देवताओं के स्तुति-गीत, विवाह-गीत, (जिनके अनेक प्रकार हैं), गवना के गीत, ऋतु-गीत, व्रत-उपवास और त्यौहारी गीत, पति-पत्नी के प्रेम-सम्बन्धी गीत, पनिहारिन, भाई-बहन के गीत, बालिकाओं के घुड़लै, गोगो, संजा (मालवा), घड़ल्या आदि अनेक प्रकार के गीत हैं। गद्य के अन्तर्गत व्रत, त्यौहार, मनोरंजन आदि से सम्बन्धित वार्ताएँ, पहेलियाँ, कहावतें (केवाड़ा) इत्यादि उल्लेखनीय हैं। भारतीय

जीवन में स्त्रियों की स्थिति चाहे सन्तोषजनक न हो किन्तु उक्त वाङ्मय के क्षेत्र में उनका सुदृढ़ प्रभुत्व अवश्य बढ़ा-चढ़ा है।

भारतीय लोक-साहित्य के अध्येताओं को स्त्रियों के लोक-साहित्य का अध्ययन साहित्य की दृष्टि से करते हुए उसे मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, आर्थिक एवं ऐतिहासिक पहलुओं की कसौटी पर भी कसना चाहिए। वर्षों से सन्तप्त, सास, ननद और भौजाई के तानों से बिद्ध, पति की अनुगामिनी, बेटे की दबेलदार और बुढ़ापे में उपेक्षिता नारी के भिन्न-भिन्न रूप उसी के वाङ्मय में मिलते हैं। मराठी में तो स्त्रियों के गीतों पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया गया है। 'सावित्री चें गाणे', 'स्त्री गीत-रत्नाकर', 'स्त्री-गीतें' आदि इसी तरह के संग्रह हैं। इनके अतिरिक्त 'अपौरुषेय वाङ्मय अर्थात् स्त्री गीतें' कमला बाई देशपाण्डे का स्वतन्त्र आलोचनात्मक निबन्ध है जिसके आधार पर प्रस्तुत लेख में चर्चा की जा रही है।

काल-निर्णय की समस्या

अपौरुषेय वाङ्मय का काल-निर्णय करना दुष्कर कार्य है। यदि इस उद्देश्य से प्रयत्न किया जाय तो निश्चय ही उपयोगी सामग्री सामने आ सकेगी। स्त्रियों के अधिकांश गीतों का क्षेत्र घर में है। प्रायः घरों के सभी गीत अपौरुषेय हैं, यह स्वीकार कर लिया जाय तो अनुचित न होगा। खाली समय में स्त्रियाँ मिल-जुलकर प्रायः 'गीत जोड़ती हैं'। कोई टेक जमाती है तो कोई आगामी पंक्तियाँ। यह सहज स्वभावगत स्त्रियों की वृत्ति कृषि-सभ्यता के आपद्-काल की अपेक्षा समृद्ध शान्तिकाल में अधिक प्रभावपूर्ण होती है। जहाँ संघर्ष और दैनन्दिन जी-तोड़ परिश्रम करना पड़ता है वहाँ नारी को गीत जोड़ने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता। गीतों के निर्माण में समूहगत प्रवृत्ति का व्यक्तिगत प्रयासों की अपेक्षा अधिक प्रभाव है। वैसे कई स्त्रियाँ स्वयं गीत जोड़ने में पटु होती हैं। उनमें इसकी प्रतिभा साधारण स्त्रियों की अपेक्षा अधिक होती है। अमुक गीत अमुक स्त्री का है और अमुक समय में बनाया गया था, आदि बातें सहज ही नहीं जानी

जा सकतीं। मध्यकालीन गीत तो अब मिलते भी नहीं हैं, तब हमें उसके भी पूर्व के गीत कहाँ उपलब्ध हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में काल-निर्णय की समस्या एक प्रमुख प्रश्न बनकर रह जाती है। गीतों में वर्णित प्रसंग और संकेतों से सम्भावित कालगत ज्ञान अवश्य हो जाता है। उदाहरणार्थ मुगलों के अत्याचारों का प्रकट करने वाला एक गीत प्रस्तुत है :

(१)
सात बहिनि चन्दा सिंकिया जे चीरैं,
सिंकिया चिरै ए रे सदौली के घाट जी।
आइगै लस्कर मुगल कै
चन्दा परी बन्दिखान जी ॥१॥
अब रितु आई गोरी भोजन की
चन्दा परी बन्दिखान जी।
रुपिया पइसा क ढेर लागी है,
मोहरा जे लागी हैं लाख जी ॥२॥
छोड़ि न देउ चन्दा बेटी
बेटी छोड़ी देव हमार जी।
रुपिया न लेबै पइसा न लेबै
मोहरा न लेबै लाख जी।
एक न छोड़ बइ चन्दारानी
जेहि संग करव बिआह जी ॥३॥
हँसि-हँसि मोगला डोलिया फनावैं
रोई-रोई चन्दा से रहि नहिं जाई जी।
जाहु दुल घर आपने
राखि हैं पगड़ी तुम्हार जी ॥४॥
डोलिया फँदाय मोगला लै जे गया
लैगा अपने मकान जी।
गेहूँ चना कै रोटिया पोआवा
ऊपराँ से गइया कै माठ जी।

जेंइ न ले चन्दारानी रानी इहै जेवनार जी ॥५॥
रोय-रोय चन्दारानी ये कहै
सुन मोगले मोरी बात।
हम धन सीभी रसोइयाँ
उठि के करहु जेवनार जी ॥६॥
हँसि-हँसि मोगला लकड़ी मँगावै
रोइ-रोइ चन्दा से रहि नहिं जाय जी।
चिता बारि चन्दा जरि गई
चन्दा तो होई गई राख जी ॥७॥
चन्दा के चिता अस धधकै
धूवा से भरिगा भण्डार जी।
जरिगै मोगला कै दाढ़ी
ऊहौं होइगा तमाम जी ॥८॥

(बाराबंकी)[1]

पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने उक्त गीत का अर्थ इस प्रकार किया है :

"चन्दा अपनी छः बहनों के साथ सदौली के घाट पर सींक (सरकण्डे) चीर रही थी। इतने में मुगलों का लश्कर आ पहुँचा और उन्होंने चन्दा को पकड़ लिया।१।

"इधर वर्षा ऋतु आ गई, उधर चन्दा बन्दीखाने में पड़ी है। रुपयों की ढेरी लगी है। लाख मुहरें रखी हैं। हे मुगल, मेरी बेटी को छोड़ दो।२।

"न हम रुपया लेंगे न पैसा, और न लाख मुहरें। चन्दारानी को हम नहीं दे सकते। इसके साथ ब्याह करेंगे।३।

"मुगल हँस-हँसकर डोली तैयार करा रहा है और रोते-रोते चन्दा से रहा नहीं जाता है। चन्दा ने कहा है—दादा, अपने घर जाओ, मैं तुम्हारी पगड़ी की लाज रखूँगी।४।

"मुगल डोली में बैठाकर चन्दा को अपने घर ले गया। गेहूँ और

1. 'हमारा ग्राम साहित्य' : रामनरेश त्रिपाठी, पृष्ठ १६७

चने की रोटी बनाकर उसने ऊपर से उस पर गाय का मट्ठा डलवाया और कहा—हे चन्दा रानी, यह जेवनार ले लो ।५।

"रो-रोकर चन्दारानी ने कहा—हे मुगल, मेरी बात सुन । मैं खाना बनाऊँ और तुम उठकर खाओ ।६।

"हँस-हँसकर मुग़ल ने ईंधन मँगाया । चन्दा से रोते-रोते रहा नहीं जाता । चन्दा चिता जलाकर जल मरी और राख हो गई ।७।

"चन्दा की चिता ऐसी धधकी कि घर-भर में धुआँ भर गया । मुग़ल की दाढ़ी जल गई और वह भी मर मिटा ।८।"

निश्चय ही उक्त गीत मुग़लों के समय का है या उससे थोड़े बाद का । यह भी सम्भव है कि इसमें काफी रूप-परिवर्तन हो गया हो । सन् १८५७ के गदर की घटनाएँ तो गीतों में खूब मिलती हैं । कुँवरसिंह का ही गीत लीजिए ।[1] उसने विद्रोही सिपाहियों का साथ दिया था । कुँवरसिंह ने अंग्रेजों से कई लड़ाइयाँ लड़ीं । डगलस की सेना से '५७ की २० अप्रैल को वह बुरी तरह घायल हुआ । घायल अवस्था में ही २३ अप्रैल को उसने कप्तान ग्रैण्ड की सेना से युद्ध किया । ग्रैण्ड मारा गया । तीन दिन बाद इसकी भी मृत्यु हो गई । सम्पूर्ण बिहार में कुँवरसिंह के गीत कई रूपों में प्रचलित हैं । लड़ाइयों के सैकड़ों गीत उपलब्ध हैं । राजस्थान तो ऐसे ऐतिहासिक गीतों का भण्डार है । पहाड़ी जातियों के गीतों में भी स्थायित्व अधिक होने से काल-क्रम का सूत्र मिल सकता है ।

इसी प्रकार रेलगाड़ी, नये आभूषण, खादी-विषयक प्रसंग, गांधीजी का उल्लेख, नई वस्तुओं के नाम, स्थान-वर्णन, आदि संकेतों से गीतों के सृजन-समय का ज्ञान हो जाता है । कभी-कभी परम्परा से प्रचलित गीतों में भी नये शब्द स्थान पा जाते हैं, किन्तु इससे गीतों की आयु नहीं बदलती । पुरानी शैली नवीन शैली से भिन्न होती ही है । उसे पहचानने में कठिनाई नहीं होती । दो धाराओं का संयोग भी ज्ञात हो सकता है—केवल दृष्टि और पकड़ की आवश्यकता है । अधिकांश गीतों का काल-निर्णय केवल अनुमान-

१. देखिए, 'कविता कौमुदी' (भाग ५) पृष्ठ २६७

गम्य ही अधिक सम्भव है। व्यक्ति-विशेष का नाम गीत में आ जाने से भी गीत का समय मिल जाता है। युद्ध की मँहगाई का परिणाम स्त्रियों के गीतों में उपयोगी वस्तुओं के उल्लेख के समय झलकता है। ऐसे कई गीत हमें उपलब्ध हुए हैं। सतियों से सम्बन्धित गीतों की भी कमी नहीं। काल-निर्णय की दृष्टि से सतियों के गीत अत्यन्त ही उपयोगी हैं।

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर गीतों के गाये जाने के उल्लेख मिलते हैं। ११वीं शताब्दी के 'अभिलाषार्थ चिन्तामणि' ग्रन्थ में सोमदेव ने स्त्रियों द्वारा गीत गाने का उल्लेख किया है। 'संगीत-रत्नाकर' में 'ओवी' (मराठी) को एक गेय प्रकार बताया है, यद्यपि उस काल की 'ओवी' उपलब्ध नहीं है। गीतों की यह परम्परा अत्यन्त ही पुरानी है। जब हम अपौरुषेय गीतों पर विचार करते हैं तो हमें उनकी प्राचीनता पर पौरुषेय गीतों की अपेक्षा अधिक विश्वास करना पड़ता है। पुराने शब्दों के अनेक विकृत रूप आज के गीतें में मिलते हैं जो गीत की आयु की ओर संकेत करते हैं। शताब्दियों पूर्व के शब्द गीतों के माध्यम से चले आ रहे हैं। 'कंथ' शब्द को ही लीजिए इसका अर्थ है 'पति'। शब्द पुराना है। राजस्थान, मालवा, निमाड़, गुजरात, बुन्देलखण्ड, अवध आदि में इसका प्रयोग बराबर मिलता है। एक मराठी गीत में इसके प्रयोग को देखकर विश्वास किया जा सकता है कि गीत अधिक प्राचीन होगा :

> सासु बाई सासु बाई मला आलं मूल
> मला काय पुसतेस, बरीच दिसतेस
> पुस जा आपुल्या कंथाला।

परम्परा से चले आते हुए गीतों में भावागत फर्क नये शब्दों के कारण आ जाता है। किन्तु ऐसा केवल नगरों के निकटवर्ती गाँवों के गीतों में होता है। सुदूर ग्रामों के भीतर कम-से-कम चार पीढ़ी पुराने अर्थात् तीन शताब्दी पूर्व के गीत मिलते हैं।

गीत की तीन अवस्थाएँ

अपौरुषेय वाङ्मय में गीत-निर्माण की तीन अवस्थाएँ स्पष्ट दीखती हैं—

१. लयबद्ध शब्द-रचना,

२. लयबद्ध शब्द-रचना में अर्थ की संगति, और

३. अर्थ-प्रधान लयबद्ध रचना।

मनुष्य में स्वभावतः नादप्रियता अवस्थित है। नादयुक्त शब्द-रचना की प्रथम स्थिति उसके लिए सहज सम्भव थी। विशेष ढंग से किसी बात को कहने का ज्ञान बाद में उत्पन्न हुआ। नाद के माध्यम से अर्थ की अवस्था प्रकट हुई। यह संगति अधिक उपयुक्त प्रतीत हुई। अर्थ के संसर्ग से नाद को महत्त्व मिलने लगा। नाद भी अर्थ पर कभी-कभी हावी होकर अपने प्रभुत्व को बनाने का प्रयत्न करता रहा। यह दूसरी अवस्था थी जिसमें नाद और अर्थ के बीच विकास-क्रम की दृष्टि से संघर्ष हुआ। अन्तिम अवस्था में अर्थ का प्राधान्य हुआ और नाद का सहयोग उसके लिए अनिवार्य सिद्ध हुआ। आज जो गीत एवं कथाएँ प्राप्त हैं वे सभी सार्थक हैं। नाद उनके अर्थों को उत्कर्ष प्रदान करता है।

पहेलियाँ, बच्चों के खेल-गीत, अथवा मध्यवर्ती उत्तर-भारत की स्त्रियों के ख्याली गीतों में अधिकांशतः लयबद्ध शब्द-रचना मिलती है। उदाहरणार्थ :

सरर सरर सतरी सरकाने वाला कौन
सीता चली सासरे मनाने वाला कौन

(नदी)

× × ×

आसकस बारकस, खदूर को खूठो
गाय छ मारकणी, दूद छ मिठो

(शहद का छत्ता)

टेसू, झाँझी, छल्ला (निमाड़ में सल्ला), घड़ल्या, छतोद्, गोगो, आदि बच्चों के गीतों में लयबद्धता के साथ अकल्पित संयोग एवं बार-

बार आने वाली टेक लय की स्थिति बनाने के लिए आवश्यक होती है। देखिए :

छत्तोद् छत्तोद्
कोठी प सुई
थारी बेटी अई
छत्तोद्-छत्तोद्—

(निमाड़)

× × ×

धिन्क धिन्क धिन्नड़े
गवर नाचे आम्हा पुढ़े

× × ×

शालु की शाल की
तुझी माझी पालखी
पगड़ा फू बई पगड़ा फू

उक्त उदाहरणों में इटैलिक पदक अर्थहीन हैं। अर्थहीनता का यह लक्षण प्रथमावस्था का द्योतक है, यद्यपि इनमें आगामी अवस्थाएँ क्रमशः आ मिली हैं।

दूसरी अवस्था में शब्द-रचना में अर्थ की संगति आने लगी। एक पंक्ति के पश्चात् दूसरी पंक्ति सार्थक हो, इस बात का प्रयत्न गीतों में मुखर हुआ। टेक का सहारा छोड़ देना कभी सम्भव न था और न रहेगा। बिना टेक के आगामी पंक्तियों की दौड़ में बाधा पहुँचती है। लययुक्त अर्थगत शब्द बिना उसके प्रगट हो ही नहीं सकते। वह तो वास्तव में 'पार्श्वसंगीत' का काम करती है।

स्त्रियों द्वारा रचित लोरी गीतों में बच्चों के अन्य गीतों की अपेक्षा अर्थ की मात्रा अधिक पाई जाती है। धुन अथवा टेक वहाँ केवल प्रभाव के हेतु प्रयुक्त होती है। वस्तुओं के नाम बार-बार दुहराने अथवा नवीन वस्तुओं के नाम जोड़ने की प्रवृत्ति स्त्रियों और बालिकाओं के गीतों में सर्वकालीन

है। अर्थ की संगति के साथ लघु कथानकों का प्रवेश भी हुआ। टेसू या झांझी, संजा, फुलांभई, या फेरा के गीतों (फेरी च्यों गाणीं) में वे प्राप्त होते हैं।

स्त्रियों के गीतों में जिन कथानकों का प्रवेश है वे उन्हीं के जीवन से अवतरित हुए हैं। उल्लेखनीय पात्रों के माध्यम से स्त्रियाँ अपने वर्ग की घटनाएँ गुम्फित कर देती हैं। इसी अवस्था में प्रश्नोत्तर प्रवृत्ति का भी विकास हुआ। विचारों का उदय प्रश्नोत्तर शैली के गीतों में लक्षणीय है।

मराठी गीतों में 'जात' के गीत (लटपटें वृत्त) व्यवस्थित छन्द-रचना हैं। अन्य गीतों में बैठकी गीत प्रायः शिथिल होते हैं। फेरों के गीतों के विषय में भी यही कहा जा सकता है। 'ओवी' पूर्णता को पहुँचा हुआ रूप है। सन्त ज्ञानेश्वर ने अपनी ओवी के सम्बन्ध में कहा था कि उसे जो गा सकता है वही गाये, अन्यथा पढ़कर ही कहे। 'ओवी' की व्यवस्था के पीछे यह परम्परा मराठी लोक-साहित्य में उल्लेखनीय है।

'उखाणा' मराठी लोक-साहित्य की दूसरी सम्पत्ति है। स्त्रियाँ प्रायः पुरुषों के नाम नहीं लेतीं। हिन्दू स्त्रियों का यह प्रधान लक्षण है। प्रसंग-विशेष पर जब उन्हें अपने पति का नाम लेना पड़ता है तब मनोरंजक शब्द-रचना के माध्यम से वे अपने पति का नाम व्यक्त करती हैं। ऐसा विश्वास है कि नाम लेने से पति की आयु क्षीण होती है। इसी कारण प्रथम बालक अथवा बालिका के नाम भी नहीं लिये जाते। उन्हें किसी घरू नाम से पुकारा जाता है। ज्ञानेश्वर के समय 'उखाणा' परम्परा विद्यमान थी। 'रुक्मिणी स्वयंवर' में एकनाथ ने भी विवाह-प्रसंग में इस परम्परा का यथोचित वर्णन किया है। 'उखाणा' अनेक रूप में सम्पूर्ण महाराष्ट्र समाज में प्रचलित है। इसमें नये सृजन के लिए मार्ग प्रशस्त है। 'उखाणा' का एक उदाहरण है :—

अंधाऱ्या रात्री चमकला काजवा
'शंकरराव' पाय द्या उजवा

'अपौरुषेय वाङ्मय', जैसा कि ऊपर बताया गया है, विभिन्न रूपों

में है। उसका विस्तार पुरुषों के लोक-साहित्य की अपेक्षा काफी विशाल है। गद्य के क्षेत्र में उपवास, व्रत, त्यौहार और अनुष्ठानिक लोक-कथाएँ आदि इसके अन्तर्गत आते हैं। इस दिशा में स्वतन्त्र ग्रन्थ हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में अपेक्षित हैं। गुजराती में नर्मदाशंकर लालशंकर द्वारा लिखित 'नागर स्त्रीओ माँ गावता गीत' और मारवाड़ी में ताराचन्द ओझा द्वारा सम्पादित 'मारवाड़ी स्त्री-गीत संग्रह' ध्यान देने योग्य ग्रन्थ हैं। प्राथमिक आवश्यकता स्वतन्त्र रूप से अपौरुषेय वाङ्मय के प्रकाशन की है। तत्पश्चात् उसका आलोच्य स्वरूप अपेक्षित होगा। हिन्दी के वृहत् क्षेत्र में इस अभाव की पूर्ति होनी चाहिए।

५

लोकगीत क्या है ?

पॅरी के कथनानुसार लोकगीत आदि-मानव का उल्लासमय संगीत है। गुफाओं में पनपते हुए मानव में जब थोड़ी-बहुत बुद्धि आई और उसके आधार पर उसमें भावनाओं के अंकुर फूटे तो व्यक्त करने के लिए उसने विकृत अलाप लेना आरम्भ किया। यही आदि-संगीत पॅरी के शब्दों में लोकगीत है। ('This spontaneous music has been called Folk-song') अंग्रेजी का शब्द Folk-song (फोक साँग) जर्मनी के volkslied का-अपभ्रंश है। समस्त जन-समाज में चेतन-अचेतन रूप में जो भावनाएँ गीत-बद्ध होकर व्यक्त हुईं उनके लिए लोकगीत उपयुक्त शब्द है। ग्रिम के शब्दों में "लोकगीत अपने-आप बनते हैं।"

जन-जीवन के भाव अभिव्यक्त तो होते हैं, किन्तु अंकित नहीं। जहाँ वे अंकित हो जाते हैं, देश, काल और परिस्थिति की छाया उनमें बोलती है। जीवन का रंग उनमें चमकता है। उनके अंकन में 'बनना और बिगड़ना' एक प्रकार से गति की सूचना का वाहक है। गीतों के रूपों में जहाँ जन के भाव उठे हैं, वहाँ उनके बोल बिखरकर बेकार नहीं गए। खेतों में, नदियों, पहाड़ों, मैदानों या रास्तों में अथवा घरों में, आपसी बातों में, विरह में, वेदना में, हल चलाते हुए, कोल्हू पर, युद्ध के समय, खेल-कूद या हँसी-मजाक में, जहाँ भी हो अलग-अलग अवसरों पर गीत बनकर कण्ठों से

फूटे हैं, और फूटकर खेलते-मचलते, नये छन्दों और शब्दों की जोड़-तोड़ के साथ कुछ समय तक टिकते अवश्य हैं। नये गीतों के साथ पिछले घुलते जाते हैं। नई पीढ़ी, नये भाव, यही गीतों की परम्परा है। गीतों में विज्ञान की तराश नहीं, मानव-संस्कृति का सारल्य और व्यापक भावों का उभार होता है। भावों की लड़ियाँ लम्बे-लम्बे खेतों-सी स्वच्छ, पेड़ों की नंगी डालों-सी 'रफ' (Rough) और मिट्टी की तरह सत्य हैं।

गीतों की यह परम्परा तब तक जीवित है, जब तक मानव का अस्तित्व विद्यमान है। आदि-मानव के कण्ठ से जो विकृत भाव कभी निकले थे, कालान्तर में वे गीत बन गए। गीतों के प्रारम्भ के प्रति एक सम्भावना हमारे पास है, पर उसके अन्त की कोई कल्पना नहीं। यह वह बड़ी धारा है, जिसमें अनेक छोटी-मोटी धाराओं ने मिलकर उसे सागर की तरह गम्भीर बना दिया है। सदियों के घात-प्रतिघातों ने इसमें आश्रय पाया है। मन की विभिन्न स्थितियों ने इसमें अपने ताने-बाने बुने हैं। स्त्री-पुरुष ने थक-कर इसके माधुर्य में अपनी थकान मिटाई है। इसकी ध्वनि में बालक सोये हैं, जवानों में प्रेम की मस्ती आई है, बूढ़ों ने मन बहलाए हैं, वैरागियों ने उपदेशों का पान कराया है, विरही युवकों ने मन की कसक मिटाई है, विधवाओं ने अपने एकांगी जीवन में रस पाया है, पथिकों ने थकावटें दूर की हैं, किसानों ने अपने बड़े-बड़े खेत जोते हैं, मजदूरों ने विशाल भवनों पर पत्थर चढ़ाए हैं और मौजियों ने चुटकुले छोड़े हैं।

आदि-काल में जब सामाजिक चेतना विकास की ओर गतिशील थी, उसी समय ऐसी कविता का जन्म हुआ जिसका जीवन से सम्बन्ध था। धीरे-धीरे प्रकृति के कुछ भागों पर जब मानव की विजय के आसार प्रकट हुए तो गीतों में भी इस विजय के प्रति भावनाएँ व्यक्त हुईं। प्रकृति के विकराल रूप से परास्त होकर अकेला मानव उसके सामने झुका भी है। विभिन्न इकाइयों में इस प्रकार झुकने की अपेक्षा सामूहिक रूप से उसका मुकाबला करने की समझ थोड़े ही काल के बाद आ गई। संगठन का मूल्य और सामाजिकता की आवश्यकता को उसने समझा। अतः सामाजिक तत्त्व को

व्यक्त करने वाले समूह के गीत मनुष्य के निष्कर्म को दूर करने तथा उत्साह और प्रेरणा प्रदान करने में बड़े मूल्यवान सिद्ध हुए हैं। स्पष्ट है कि आदि-काल के गीतों में मनुष्य की सामूहिक भावनाएँ बँधी हुई हैं। ऋतु-उत्सवों के समय गाये जाने वाले गीतों में मनुष्य के सामूहिक श्रम की आपसी कहानियाँ हैं। इन गीतों में सुखी जीवन और अच्छी उपज की कल्याण-मयी भावनाएँ हैं। बीते युगों के निरन्तर संघर्ष, मानव के राग-द्वेष और अभावों की छायाएँ उनमें अवश्य उभरी हैं, फिर भी उनका स्वस्थ दृष्टिकोण कविता के वास्तविक रूप की संज्ञा पा सकता है।

काव्य सत्य की प्रेरणा का प्रसाद है। अनुभव उसके पीछे अवश्य है, किन्तु सम्पूर्ण सत्य नहीं। भिन्न-भिन्न हृदय अपना व्यक्तित्व कल्पना और भावों के रूप में प्रस्तुत कर काव्य का सृजन करते हैं। उसके पीछे कार्य करने वाली समान भावना अपने रूप से आवरण नहीं हटा पाती, किन्तु लोकगीतों में यह बात नहीं है। उनमें प्रकटीकरण की स्वाभाविकता इतनी सीधी और प्रकृति के-से माधुर्य से पूर्ण होती है कि हमें कृत्रिमता का लेश-मात्र भी आभास नहीं होता। सजावट क्या है, लोकगीतों के स्रष्टा नहीं जानते। भावों की अभिव्यक्ति स्वाभाविक और हृदय से निकली हुई लय के साथ होती है। जिस प्रकार अपने-आप ही हरे जंगलों में पंछी गा उठते हैं, ठीक उसी प्रकार लोकगीत स्वाभाविक रीति से हृदय से फूटकर निकलते हैं। काव्य उनमें होता है, पर भावों की खींचतान नहीं। लोकगीत की 'एक-एक' बहू के चित्रण पर रीति-काल की सौ-सौ मुग्धाएँ, खण्डिताएँ और धीराएँ निछावर की जा सकती हैं, क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से लदी हुई होकर भी निष्प्राण हैं। ये अपने जीवन के लिए किसी शास्त्र-विशेष की मुखापेक्षी नहीं हैं और अपने-आप में परिपूर्ण हैं।[१]

लोकगीतों की असली दुनिया शहरी चमक-दमक से बहुत दूर है। हमेशा से लहराते खेत, सरिता का मीठा संगीत, कोयल का पंचम राग और बरसने के पूर्व मेघों का गर्जन-तर्जन आज भी मानव-हृदय के लिए प्रेरणा

१. पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ १३०

की वस्तु बने हुए हैं। झुरमुटों की आड़ से ग्वालों के मस्त तराने, राह चलते मुसाफिरों के गीत, पनघट पर जाती हुई लाजवन्ती बहुओं की गुन-गुनाहट, वर्षा की रातों में दिल को फड़का देने वाले 'आल्हा', सितम्बर में 'गरबा' और 'बिरहा' के गीत तथा चक्कियों की 'घर-घर' स्वर-लहरी में गाये जाने वाले मधुर गीतों को प्रायः सभी ने सुना होगा। रात को रेगि-स्तान में बढ़ने वाला कारवाँ गाकर ही अखरने वाली खामोशी दूर करता है। मंजिल दूर है, गाँव का किसान फिर भी गाते-गाते एक लम्बा रास्ता तय कर लेता है। कोल्हू चलाने वाला सर्द रातों में भी अपने फटे कपड़ों में गा ही उठता है—अपने दुःख-दर्द भुलाने के लिए, अपने वक्त को रंगीन बनाने के लिए।

लोकगीत मानव-हृदय से निकले इन्हीं भावों का नाम है। कभी किसी ने इन्हें लिख डालने की कोशिश नहीं की, फिर भी मनुष्यों के कण्ठों पर खेलने वाले ये गीत अमर हैं। राल्फ विलियम्स ने लिखा है, "लोकगीत न पुराना होता है न नया। वह तो जंगल के एक वृक्ष के समान है, जिसकी जड़ें तो दूर जमीन में (भूतकाल) में धँसी हुई हैं, परन्तु जिसमें निरन्तर नई-नई डालियाँ पल्लव और फल फूलते रहते हैं।"[१] यही वजह है कि गीत सदा से चले आ रहे हैं, यद्यपि समय-समय पर भिन्न-भिन्न जातियों द्वारा उनके स्वरूप बदल जाते हैं। भावों में एक देश के गीत दूसरे देश के गीतों से बराबर टक्कर खाते हैं। पंजाब के गीत, मालवा के गीत, महाराष्ट्र और गुजरात के गीत आपस में प्रायः एक-दूसरे से मिलते पाये गए हैं। बाहर से प्रान्त और देश का अन्तर भले ही हो, परन्तु अन्दर से भावों में प्रायः समानता होती है। यही कारण है कि गीतों की यह व्यापकता सम्पूर्ण मानव-समाज से सम्बन्धित है।

१. A Folk-song is neither new nor old, it is like a forest tree with its roots deeply burried in the past, but which continually puts forth new branches, new leaves, new fruit."

—Ralph V. Williams

लोकगीत—'प्रकृति के उद्गार'—तड़क-भड़क से दूर, पारदर्शी शीशे की तरह स्वच्छ हैं। सरलता, रस, माधुर्य और लय इनके गुण हैं। प्रकृति के इन उद्गारों को सजाने में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का अधिक हाथ रहा है। करुण, हास्य, शृंगार आदि रसों से भरे हुए ये गीत कण्ठों से फूटकर युग-युगों से कण्ठों ही पर खेलते चले आ रहे हैं।

समय ने इन्हें कुचलने का प्रयत्न किया, ये कुचले भी गए, पर कई अब तक भग्नावशेषों की भाँति मौजूद हैं। गीत बनते हैं और बिगड़ते हैं। इतिहास इनमें छिपा बैठा है। देश की तत्कालीन रीति-नीति की जानकारी हमें इन गीतों में मिलती है। मानव-जाति की विराट् भाव-व्यञ्जना इन गीतों की हर कड़ी पर जाग्रत है। नारी-हृदय की विशालता हम पग-पग पर इनमें पाएँगे। माता के हृदय में अपने बालक के प्रति उठने वाली सुहावनी लोरियाँ, प्रियतम के विरह में तड़पने वाली नव-वधू की तड़पन, विधवा की कसक, कन्या का हास्य, झूले की बहार, पति-पत्नी के मिलन-विरह की कथा, उलाहने, पहेलियाँ आदि इनमें ओत-प्रोत हैं। मानव का इन गीतों से जन्म से लगाकर मृत्यु तक सर्वत्र सम्बन्ध है। जन्म पर 'सोहर' और 'जच्चा' के गीत, विवाह पर 'बन्ना-बन्नी', हल्दी आदि के गीत, जनेऊ पर गीत, परदेश-गमन पर गीत, आगमन पर गीत और यहाँ तक कि मृत्यु पर भी गीतों का गाया जाना एक रिवाज के रूप में मिलता है।

लोकगीतों का अपना विशेष महत्त्व है। इस सम्बन्ध में पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी के विचार उल्लेखनीय हैं। आपने लिखा है—"ग्राम-गीतों का समस्त महत्त्व उनके काव्य-सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं है। इनका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य है एक विशाल सभ्यता का उद्घाटन जो अब तक या तो विस्मृति के समुद्र में डूबी हुई है या गलत समझ ली गई है। आर्य-आगमन के पूर्व बहुत ही समृद्ध आर्येतर सभ्यता भारतवर्ष में फैली हुई थी, उसके साथ ही और भी बीसियों छोटी-मोटी सभ्यताएँ इस विशाल भू-भाग में फैली हुई थीं। आर्यों ने राजनीतिक रूप में तो भारतवर्ष को जीत लिया था, पर वे सांस्कृतिक रूप में पूर्ण रूप से यहाँ के मूल निवासियों के

द्वारा प्रभावित हो गए थे। यहाँ की मूल सभ्यता वैदिक सभ्यता से एकदम भिन्न थी और आज भी लोकाचार, स्त्री-आचार, पौराणिक परम्परा आदि के रूप में विद्यमान है। ग्रामगीत इस सभ्यता के वेद (श्रुति) हैं। वेद भी तो अपने आरम्भिक युग में श्रुति कहलाते थे। वेद भी आर्यों की महान् जाति के गीत ही थे और ग्रामगीतों की भाँति ही सुन-सुनकर याद किये जाते थे। सौभाग्यवश वेद ने बाद में श्रुति से उतरकर लिपि का रूप धारण कर लिया, पर हमारे ग्रामगीत अब भी 'श्रुति' ही हैं। जिस प्रकार वेदों द्वारा आर्य-सभ्यता का ज्ञान होता है, उसी प्रकार ग्रामगीतों द्वारा आर्य-पूर्व सभ्यता का ज्ञान हो सकता है। ईंट-पत्थर के प्रेमी विद्वान् यदि धृष्टता न समझें, तो जोर देकर कहा जा सकता है कि ग्रामगीत का महत्त्व 'मोहेन-जोदड़ो' से कहीं अधिक है। मोहेन-जोदड़ो सरीखे भग्न-स्तूप ग्रामगीतों के भाष्य का काम दे सकते हैं।"[1]

लोकगीत हमारे विकास के इतिहास की अमूल्य निधि के समान हैं। जातीय हृदय की उथल-पुथल, सुख-दुःख, संयोग-वियोग आदि की भावनाएँ भिन्न-भिन्न प्रथाओं के गीतों के रूप में व्यक्त हुई हैं। इस अमूल्य रत्न-राशि को यदि हम जमा न कर सके तो आगे इनका स्वरूप विकृत होकर बदल जायगा। "देश का सच्चा इतिहास और उसका नैतिक और सामाजिक आदर्श इन गीतों में ऐसा सुरक्षित है कि इनका नाश हमारे लिए दुर्भाग्य की बात होगी।"[2]

लोकगीतों में भावों का अशेष भण्डार है। क्षण-क्षण के भाव इनमें बँध गए हैं। समाज का कौनसा ऐसा टुकड़ा है जिसका रूप इनमें न उतरा हो। जीवन में कोमल और कठोर की सीमाएँ इनमें मिली हैं। अनुभव की सादगी और सचाई इनमें खुले-मुँह बोलती है। भावों की गहराई और

१. 'छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय' : श्यामचरण दुबे। पुस्तक की भूमिका से उद्धृत
२. लाला लाजपतराय के पत्र से उद्धृत, 'कविता कौमुदी', भाग ५, श्री रामनरेश त्रिपाठी, पृष्ठ ७७

व्यापकता इनमें ऐसे कलात्मक ढंग से घुल-मिल गई है कि आश्चर्य होता है। ठीक 'सागर में गागर' की उक्ति इनके साथ घटित होती है।

लोकगीत लय के बिना अधूरा है। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के एक लेखक का कथन है—"कोई भी गीत, यहाँ तक कि कैसा ही संगीत, लोक-गीतों पर निर्भर है। संगीत की दृष्टि से ये गीत बिना किसी वाद्य-यन्त्र के स्वाभाविक हृदयस्पर्शी स्वर का प्रतिनिधित्व करते हैं। लोकगीत मानव-जाति के हृदय से, अपने अभावों द्वारा जन्य, प्रकृति-प्रदत्त आवाज़ के द्वारा अचानक घुमड़कर प्रगट होने वाला संगीत है, जो हृदय का बोझ हल्का करने के लिए भावों की अभिव्यक्ति के निमित्त बोलने की अपेक्षा गाकर गीतों द्वारा व्यक्त किया जाता है।"

लोकगीत की व्याख्या कई विद्वानों ने की है। मराठी के उन्नायक लेखक डॉ० सदाशिव फड़के का कथन है—"शास्त्रीय नियमों की विशेष परवाह न करके सामान्य लोक-व्यवहार के उपयोग में लाने के लिए मानव अपने आनन्द-तरंग में जो छन्दोबद्ध वाणी सहज उद्भूत करता है, वही लोकगीत है।"[1]

विश्वभारती के उड़िया साहित्य के प्राध्यापक श्री कुञ्जबिहारी दास के शब्दों में "A Folk-song is a spontaneous outflow of life of the people that live in more or less primitive condition outside the sphere of sophisticated influences."

(लोकगीत लोगों के उस जीवन की प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति है, जो सुसभ्य प्रभावों से बाहर कम या अधिक रूप में आदिम अवस्था में है।)

देवेन्द्र सत्यार्थी लोकगीत का मूल जातीय संगीत में पाते हैं—"Its seed lies in community singing."[3]

---

१. लोक-संस्कृति विशेषांक, सम्मेलन-पत्रिका, मराठी लोकगीत, पृष्ठ २५०

२. ए स्टडी आफ ओरिसन फोकलोर, पृष्ठ १

३. मीट माई पीपल, पृष्ठ १६४

विशेषताएँ

डॉक्टर यदुनाथ सरकार ने लोकगीत की विशेषताएँ निम्न शब्दों में व्यक्त की हैं—"Rapidity of movement, simplicity of diction, primary emotions of universal appeal, action rather than subtle analysis, broad striking characterisation, 'thumb-nail sketches' of background and the sparest use (or rather complete avoidance) of literary artifices—these are the essential requisites of the true ballad."

(प्रबन्ध की द्रुतगति, शब्द-विन्यास की सादगी, विश्वव्यापक मर्मस्पर्शी प्राकृतिक और आदिम मनोरोग, सूक्ष्म किन्तु प्रभावोत्पादक चरित्र-चित्रण, क्रीड़ास्थली अथवा देशकाल का स्थूल अंकन, साहित्यिक कृत्रिमताओं का न्यूनातिन्यून प्रयोग या सर्वथा बहिष्कार—सच्चे लोकगीत की ये नितान्त आवश्यक विशेषताएँ हैं।)

फ्रेञ्च विद्वान् मोशिए ऑपरे ने सन् १८५३–५४ में लोकगीतों के सामान्य लक्षणों पर लोकगीत संग्राहकों के समक्ष अपने विचार प्रकट किए थे। उसके अनुसार लोकगीतों के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं—

१. 'अन्त्यानुप्रास के स्थान पर ध्वनि-साम्य का प्रयोग';

२. पुनरुक्ति (कथोपकथन में);

३. तीन, पाँच, सात आदि संख्याओं का बार-बार प्रयोग; तथा

४. दैनिक व्यवहार की वस्तुओं को सोने-रूपे की कहना।

भारतीय गीतों में इन लक्षणों के अतिरिक्त और भी लक्षण उल्लेखनीय हैं, जिन पर नीचे प्रकाश डाला जा रहा है।

नाम जोड़ने की प्रवृत्ति—यह प्रवृत्ति प्राचीनता की द्योतक है। गहनों के नाम, कुटुम्बियों के नाम, मिठाइयों के नाम, दैनिक व्यवहार की वस्तुओं के नाम आदि गीतों में बार-बार आते हैं। इन नामों से गीत के क्षेत्र का ज्ञान हो जाता है। कतिपय नाम अवश्य परम्परावश गीतों में बार-बार दोहराए जाते हैं, पर नये नामों का भी उनमें प्रवेश स्वाभाविक है।

---

१. देखिए, ढोलामारूरा दूहा, पृष्ठ ४२

बाट जोहना—ऊँची अटारी पर चढ़कर बाट जोहना। यह कृषि-सभ्यता के उस युग का संकेत है जब कि गाँव बस रहे थे। दूर की वस्तुओं को देखने के लिए ऊँचे वृक्ष, डूँगर अथवा समृद्ध ग्रामों में ऊँची अटारी पर चढ़ना पड़ता था। बाट जोहने की यह दृष्टि भारतीय इतिहास में कलात्मक चित्रों की प्रेरक रही है।

प्रश्नोत्तर-प्रवृत्ति—सीधे प्रश्नों के सीधे उत्तर। गीतों में यह प्रश्नोत्तर-प्रणाली सादगी और विकाररहित सामाजिक भावना से सम्बन्धित है।

संख्या—सात, नौ, पाँच, चार, आदि संख्याओं के अतिरिक्त छत्तीस और बत्तीस संख्याओं का भारतीय गीतों में अनेक बार उल्लेख प्राप्त होता है।

सर्वमान्य सिद्धान्तों के अनुसार लोकगीतों की अन्य विशेषताएँ भी हैं जो सभी देशों के सभी गीतों पर लागू होती हैं। इस सम्बन्ध में सबसे पहले हमें लोकगीतों को कलागीतों से पृथक् करना होगा। कलागीत साहित्य के अंग हैं, पर लोकगीत अनुश्रुति से सम्बन्धित हैं। लोक-कविता कलायुक्त काव्य से क्यों सर्वथा भिन्न है? कहीं-कहीं भारतीय गीत-परम्परा में हमारे साहित्य के दोनों अंग एक-दूसरे को स्पर्श करते हुए दीखते हैं। सन्त-साहित्य का अधिकांश परम्पराश्रुत होकर भी लोक से इस तरह घुला-मिला है कि उसे हम कला की श्रेणी में स्वीकार करते हुए भी लोक की ही सम्पत्ति कह सकते हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वान् भी मौखिक परम्परा से प्राप्त गीत-साहित्य को कलापूर्ण साहित्य में नहीं मानते हैं। कतिपय भारतीय विद्वानों की भी यही धारणा है। पर संकुचित विचारों से ऊपर उठकर इस विषय में सोचना चाहिए। साहित्य लोक की वस्तु है। स्वाभाविक रूप से परम्परागत अथवा पैतृक सम्पत्ति होकर किन्हीं अंशों में कला उन्हें छू लेती है। उसी भाँति कला-गीत अपने मूल रूप में लोक-भावनाओं से परे नहीं हैं। दोनों की समन्वित स्थिति ही रस-सृष्टि का कारण होती है।

लोकगीतों की परम्परा मौखिक रूप में ही अधिक स्वीकृत है। ग्रामों

में हजारों गीत कंठों पर बिखरे हुए हैं। प्रत्येक विषय के, प्रत्येक समय के, प्रत्येक भावों के गीत उपलब्ध हैं। प्रो० किटरिज का कहना है कि शिक्षा इस मौखिक साहित्य की शत्रु है। सभ्यता उसे गति से नष्ट करती है। कोई भी व्यक्ति अथवा जाति ज्यों ही लिखना-पढ़ना जान लेती है त्यों ही वह अपनी परम्परागत निधि को हेय समझने लगती है। निःसन्देह शिक्षा और सभ्यता की वृद्धि के साथ हम लोक-साहित्य को इसी कारण से लुप्त होते हुए देख रहे हैं।

लोकगीतों में व्यक्ति का महत्त्व नहीं होता। उन्हें समूह द्वारा निर्मित माना जाता है। इसलिए व्यक्तित्व का अभाव और समूह अथवा जातीय विशेषताओं के लक्षण उनमें मिलते हैं।

संक्षेप में (१) अकृत्रिमता, (२) सामूहिक भाव-भूमि, (३) परम्परात्मकता अथवा मौखिक-परम्परा गुण, (४) रूढ़ अतिशयोक्ति, और (५) संगीतात्मकता आदि गीतों की विशेषताएँ हैं।

एक विद्वान् के शब्दों में लोकगीत इस प्रकार के होते हैं—

(1) anonymous, (2) familiar to every one, (3) reflect the social values of the group, (4) are learnt as a part of teaching.'[1]

(नामरहित, सर्वजनीन, समूह के सामाजिक मूल्य को व्यक्त करने वाले और उपदेशात्मक।)

भारतीय गीतों में इन सब विशेषताओं के अतिरिक्त रस-सृष्टि का वैशिष्ट्य है। इसीलिए वे आज भी सभ्य-समाज के हृदय को छूने की सामर्थ्य रखते हैं।

लोकगीतों का ऐतिह्य

लोकगीत वैसे तो मानव-समाज के विकास के साथ पनपने वाली मौखिक सम्पत्ति है, पर उसके भी क्रमशः उत्थान की एक धारा है। सभी

१. जॉन एफः एम्ब्री, जापानीज़ पीजेण्ट सॉंगज़, पृष्ठ २

देशों में लोकगीतों का विकास समान रूप से हुआ है। ज्यों-ज्यों शब्दों में अभिव्यक्ति का बल आता गया लोकगीतों में संगीत के माध्यम से समाज की भाव-धारा प्रकट होती गई। प्राचीन ग्रन्थों में इनके विकास की कहानी अस्पष्ट रूप में मिलती है। जहाँ तक भारतीय गीतों का प्रश्न है लोकगीतों के गाये जाने के अनेक उल्लेख उनमें पाये जाते हैं। पर भारतीय जन भी धरती के अन्य जन के साथ इस दिशा में बराबर सहयोगी रहा है, अतएव उसका सम्बन्ध इस बड़े दायरे में भुला नहीं सकते। धरती पर जहाँ-जहाँ मानव-समाज संगठित हुए वहीं लोकगीत पनपे और परम्परा की थाती बनकर चलते रहे। ऋग्वेद में 'गाथित्' शब्द गाने वाले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। विवाह के समय गाये जाने वाले गीतों के लिए 'रैमी' या 'नराशंसी' शब्द उपलब्ध है। इस प्रकार समस्त गाथाएँ छन्दबद्ध पर सामाजिक अवसरों पर गाई जाने योग्य होती थीं। उनसे हमें लोकगीतों के तत्कालीन स्वरूप का संकेत मिलता है। ब्राह्मण तथा अरण्यक ग्रन्थों में भी अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं। ऐतरेय ब्राह्मण ने 'ऋक्' और 'गाथा' में भेद व्यक्त किया है। 'ऋक्' का सम्बन्ध 'दैवी' से है, गाथा का 'मानुषी' से, अतएव 'गाथा' ही अधिक अंशों में लोकगीत के निकट है।

गाथाओं की इस परम्परा का रूप भारतीय साहित्य में दूर तक मिलता है। महाभारत के आदि-पर्व की अनेक गाथाएँ बहुत पूर्व की प्रतीत होती हैं। इसी तरह 'ऐतरेय ब्राह्मण', 'मैत्रायणी संहिता', 'पारस्कर गृह्यसूत्र', 'आश्वलायन गृह्यसूत्र', 'वाल्मीकीय रामायण', 'पाली जातक', 'श्रीमद्भागवत', आदि प्राचीन ग्रन्थों में गाथाओं की परम्परा के सूत्र मिलते हैं।

हाल की 'गाथा सप्तशती' के काल में लोकगीतों का महत्त्व बढ़ने लगा। अपभ्रंश के विकास ने लोक-प्रचलित वाणी की महत्ता घोषित की। निस्सन्देह इस समय लोकगीतों को साहित्यिक महत्त्व अवश्य मिला होगा। प्राचीन ग्रन्थों में गीतों के गाये जाने के अनेक उल्लेख मिलते हैं।

भागवतकार ने लिखा है—

कदाचिदौत्थानिककौतुका पल्वे,
जन्मर्क्ष योगे समवेतयेषिताम् ।
वादित्र गीतद्विज मंत्रवाचकै-
श्चकार सूनोरभिषेचनं सती ॥

इससे जन्म-दिवस के उपलक्ष में गीतों के मुखरित होने का स्पष्ट उल्लेख है। विज्जका के शब्दों में—

विलासमसृणोल्लसन्मुसललोलदोः कन्दलो।
परस्परपरिस्खलद्वलयनिः स्वनोद्‌बन्धुरा ॥
लसन्ति कल हुंकृतिप्रसमकम्पितोरः स्थल-
त्रुट्‌गमके संकुलाः कलम कण्डनी गीतयः ॥

संस्कृत की कवयित्री ने उक्त पंक्तियों में धान कूटने वाली स्त्रियों के गान का वर्णन किया है। वे अपने हाथ में मूसल धारण किये हुए धान कूट रही हैं। मूसल के उठने-गिरने से हाथ की चूड़ियों से ध्वनि निकलती है और हुंकार से गान में गति मिलती है।

नैषधचरित्र में श्री हर्ष ने भी स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले गीतों का वर्णन किया है। इस प्रकार गीतों के गाये जाने के संकेत दूर तक साहित्य में उपलब्ध हैं। तुलसीदास ने भी सयानी सखियों के गीत-गान का उल्लेख किया है—

चली संग लइ सखी सयानी।
गावत गीत मनोहर बानी ॥

उक्त ग्रन्थों से गीत के प्रचलन का ज्ञान अवश्य हो जाता है, किन्तु गीत के बोल और गाने की विधियों का पता नहीं चलता। अवसर-अवसर के गीत प्रचलित थे। स्त्रियों और पुरुषों द्वारा गीत गाये जाते थे। गाने वाले समूह का सूत्र मिल जाना सहज ही है। यदि यह विश्वास से कहा जाय कि प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में लोक से सम्बन्धी अनेक सामग्री समय पर परिष्कृत करके संकलित की गई है तो अत्युक्ति न होगी।

गीतों के प्रकार

लोकगीतों का सामान्य वर्गीकरण (१) जातियों की दृष्टि से, (२) संस्कारों और प्रथाओं की दृष्टि से, (३) धार्मिक विश्वासों की दृष्टि से, (४) कार्य के सम्बन्ध की दृष्टि से, तथा (५) रस-सृष्टि की दृष्टि से किया जा सकता है। जहाँ तक भारतीय गीतों के वर्गीकरण का प्रश्न है, इस बात का प्रयत्न किया गया है कि उन्हें श्रेणियों में विभक्त किया जाय। पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने गीतों को (१) संस्कार-सम्बन्धी गीत, (२) चक्की और चरखे के गीत, (३) धर्मगीत—त्यौहारों पर गाये जाने वाले गीत, भजन, आदि, (४) ऋतु-सम्बन्धी गीत-सावन, फागुन और चैत्र के गीत, (५) खेती के गीत, (६) भिखमंगों के गीत, (७) मेले के गीत, (८) भिन्न-भिन्न जातियों के गीत, जैसे अहीर, चमार, धोबी, पासी, नाई, कुम्हार, भुजवा आदि, (९) वीर-गाथा—जैसे, आल्हा, लोरिक, हीर-रांझा, ढोला-मारू, आदि, (१०) गीत-कथा—छोटी-छोटी कहानियाँ जो गा-गाकर कही जाती हैं, और (११) अनुभव के वचन—जिन्हें घाघ, भड्डरी आदि श्रेणियों में विभक्त किया है।

कुछ वर्ष पूर्व मध्यभारत के इतिहास-शोधक श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव ने गीत-संग्रह की एक योजना बनाई थी। उस समय उन्होंने गीतों की एक लम्बी सूची प्रकाशित की जिसे यहाँ उद्धृत करना प्रासंगिक है। लोकगीतों को चार बड़े समूहों में उन्होंने बाँटा है। यद्यपि ऐसे समूह और भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं, किन्तु समग्र रूप से गीतों की एक बड़ी सूची प्रथम उपलब्ध होना अनिवार्य है। श्री रामचन्द्र भालेराव की सूची इस प्रकार है :—

ग्रामगीतों के प्रकार

१. संस्कार विषयक—(१) पुत्र जन्म सोहर, (२) चरुवा के गीत, (३) चौक के गीत, (४) साध के गीत, (५) करोधनी-कँदोरा बाँधने के गीत, (६) मुण्डन, (७) जनेऊ, (८) मामा के यहाँ पहली बार जाने के गीत, (९) पहली बार

बरात में जाने के गीत, (१०) टीका, (११) विवाह, (१२) द्विरागमन, (१३) तिरागमन अर्थात् रोने के गीत, (१४) समधियों के आने के गीत, (१५) गौदान, देवस्थापन, पुराण बैठाने, कूपखनन, गृहारम्भ के गीत, (१६) तीर्थ-यात्रा और गमन-आगमन के गीत, (१७) अन्नप्राशन के गीत, (१८) पलने के गीत, (१६) अगरनी-गर्भवती स्त्री विषयक, (२०) माता कढ़ने के गीत-भेंट, (२१) जेवनार, (२२) पत्तल बाँधना व खोलना, (२३) भरनी या ढाक के गीत (साँप काटने पर), (२४) मेले के गीत, (२५) जन्मगाँठ के गीत, (२६) छत्री स्थापना के गीत।

२. माहवारी गीत—(१) बारह मासा,(२) नोरता-नौरात्र-चैत्र-अश्विन, (३) रामनौमी, (४) आखातीज, (५) दसहरा (जेठ-आश्विन), (६) देव शयनी, देवउठान, (७) सावन-हिंडोला, (८) सांझी, (झेंझी-हंडी के गीत), (६) झाँझी, (१०) बीजा-मिट्टी के गीत—टेसू, (११) कृष्णजन्माष्टमी, (१२) करवा चौथ, (१३) महालक्ष्मी, (१४) बछवा छठ, (१५) मोर छट, (१६) नौदुर्गा, (१७) गनगौर, (१८) कार्तिक और माघ-स्नान के गीत, (१६) होली, (२०) अहोरी ओठें-कार्तिक के गीत, (२१) कजरिया तीज, श्रावण, (२२) भुजरिया।

३. सामाजिक-ऐतिहासिक—(१) चन्द्रावल, (२) बेला सता, (३) ढोला मारू, (४) हरदौल, (५) बाबू के गीत (६) कारसदेव के गीत, (७) कुँवर के गीत, (८) हीरामन, (६) नगरा, (१०) मन्नादेव, (११) पंडत मेहतर, (१२) जाहरा पीर, (१३) अलख, (१४) हीलों के गूजरों के गीत, (१५) कन्हैया, (१६) सलगा सदावृक्ष, (१७) गोरा बादल, (१८) बुलाकीदास, (१६) घासीराम पटेल, (२०) पापूजी के गीत, (२१) राजा केवट, (२२) ओखाजी, (२३) तेजाजी, (२४) गोराजी, (२५) भेरूजी।

४. विविध—(१) खेती की कहावतें, (२) ऊख की फसल खत्म होने के गीत, (३) बारी पूजने के गीत, (४) जात व चक्की के गीत, (५) लावनी, (६) रसिया, (७) ख्याल, (८) छून्दरा, (६) दोहे-साखी, (१०) सारठे, (११) सवैये, (१२) भजन, (१३) कवित्त, (१४) सिन्धू, (१५) धौल।

लोकगीतों का विषयानुसार वर्गीकरण काफी विस्तृत है। मानव के जन्म से उसका क्षेत्र आरम्भ होकर मृत्यु पर समाप्त होता है। अतः उपरोक्त सूची भी पर्याप्त नहीं है। इसमें अनेक प्रान्तों के गीतों के नाम छूट गए हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से भारतीय लोकगीतों का वर्गीकरण संलग्न सारणी से अधिक स्पष्ट हो सकेगा।

मुक्तक
संस्कार-विषयक गीत
द्ध-
बच्चों के गीत
विविध गीत
बालक जन्म के गीत
मुण्डन के गीत
जनेऊ
वर पक्ष के
तिहाससम्मत
क्रम संवृद्ध (Drolls)
लड़कियों के
हास्य गीत (गाली)
अन्य गीत
जनों से सम्बन्धित गीत

६
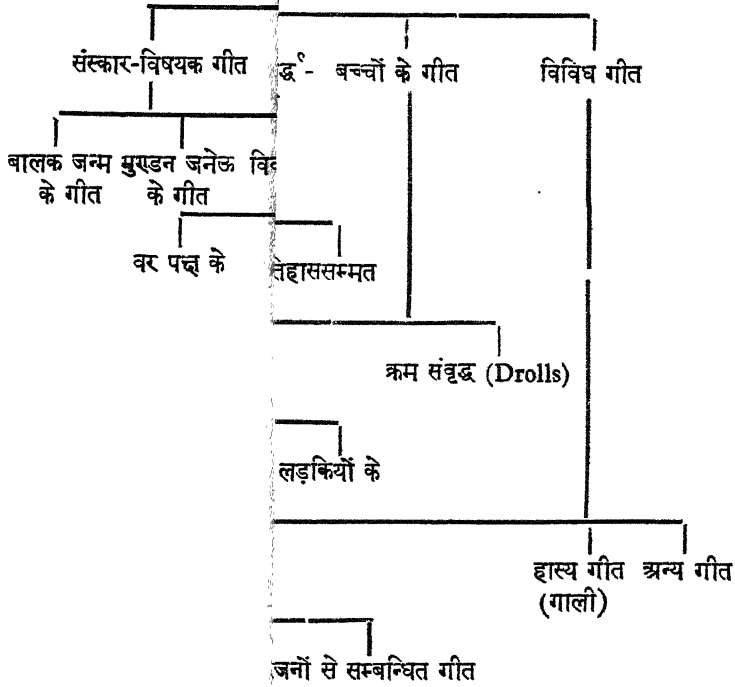
ग्रामगीत : लोकगीत : जनगीत

पारिभाषिक प्रयोग पर विचार

राजस्थानी लोक-साहित्य के उन्नायक स्वर्गीय श्री सूर्यकरण पारीक ने 'राजस्थानी लोकगीत' (संवत् १६६६) पुस्तिका के आरम्भिक पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में 'लोकगीत' एवं 'ग्रामगीत' शब्दों के समानार्थी प्रयोग के विषय में लिखते हुए हिन्दी में उस समय तक की इस प्रचलित मान्यता को कदाचित् प्रथम बार भंग करने का प्रयत्न किया। आपने लिखा है—

"कुछ लोगों ने लोकगीतों को 'ग्रामगीत' भी कहा है। परन्तु हमारे खयाल से लोकगीतों को ग्राम की संकुचित सीमा में बाँधना उनके व्यापकत्व को कम करना है। ग्राम और नगरों के भेद अर्वाचीन काल में बढ़े हैं। गीतों की रचना में ग्राम और नगर का इतना हाथ नहीं है जितना कि सर्वसाधारण का—'लोक' का।"[१]

इससे स्पष्ट है कि लगभग दस वर्ष पूर्व हिन्दी में 'ग्रामगीत' शब्द प्रचार में आ गया था। इससे बहुत पहले पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने 'ग्रामगीत' शब्द का ही प्रयोग किया है। किन्तु पारीकजी ने सन् १६३८ में राजस्थान रिसर्च सोसायटी, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित राजस्थानी गीतों के

१. प्रथम संस्करण, पृष्ठ १

बृहद् संग्रह को 'राजस्थान के लोकगीत'[1] शीर्षक से ही अभिहित किया। यद्यपि इसके चार वर्ष पूर्व राजस्थान के श्री जगदीशसिंह गेहलोत द्वारा संकलित मारवाड़ी गीतों का शीर्षक 'मारवाड़ी ग्रामगीत' ही था, अतएव सन् १६४० के लगभग 'ग्रामगीत' और 'लोकगीत' शब्दों के व्यवहृत प्रयोग-विषयक प्रश्न का उठ आना स्वाभाविक था। यह प्रश्न मूलतः 'लोक' शब्द से सम्बन्धित रहा। इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेजी के 'फोक' (Folk) शब्द के पर्यायस्वरूप हिन्दी में अन्य प्रान्तीय भाषाओं की भाँति 'लोक' शब्द का व्यवहार आरम्भ हुआ। अंग्रेजी में 'फोक' का अर्थ है लोग, राष्ट्र, जाति, सर्व-साधारण अथवा वर्ग-विशेष। इसी शब्द से बने 'फोक-लिटरेचर', 'फोकलोर', 'फोकटेल्स', 'फोकसांग' आदि शब्दों के अनुरूप 'लोक-साहित्य', 'लोक-वार्ता', 'लोक-कथा', 'लोकगीत' आदि शब्द हिन्दी में गढ़े गए। पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'लोक' शब्द का अर्थ नगरों और ग्रामों में फैली हुई समूची जनता है, जिसका आधार पोथियाँ नहीं हैं।'[2] इसी व्यापक अर्थ में गीत के साथ 'लोक' शब्द जोड़ा जाना अभीष्ट प्रतीत होता है।

पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने सन् १६२४ के पश्चात् उत्तर-भारत में गीत-संकलन का आन्दोलन किया। वे सन् १६२७ (८ नवम्बर) को प्रयाग से बम्बई रवाना हुए। वहाँ जाकर आपने गुजराती और मराठी गीतों की पुस्तकें खरीदीं। तब तक मराठी और गुजराती में 'लोकगीत' शब्द का प्रयोग होने लगा था। विशेषतः गुजराती में यह शब्द बहुत परिचित-सा हो चुका था, क्योंकि श्री झवेरचन्द मेघाणी के सद्-प्रयत्नों से लोक-साहित्य की ओर सन् '२३ के पहले ही गुजराती विद्वानों की दृष्टि जा चुकी थी। उक्त सन् में प्रकाशित श्री मेघाणीजी की पुस्तक 'सौराष्ट्रनी

१. यह ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित है। श्री पारीक के अतिरिक्त ठाकुर रामसिंह एवं नरोत्तम स्वामी भी इसके सम्पादक हैं

२. 'जनपद' त्रैमासिक (अंक १), लोक-साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ६६

रसधार' के प्रथम भाग के 'बे-बोल' (दो शब्द) में इस प्रकार के पूर्व-प्रयत्नों का उल्लेख किया गया है। सन् १९३० के लगभग रणजीत-राय मेहता लिखित ग्रन्थ 'लोक-साहित्य' के नाम से ही प्रकाश में आ चुका था। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी जो इन दिनों अपने लेखों द्वारा प्रसिद्ध हो रहे थे, सन् '३६ तक 'ग्रामगीत' शब्द का ही प्रयोग करते रहे।[१] इस सन् के काफी पहले श्री त्रिपाठीजी का गीत-संग्रह 'कविता-कौमुदी' (५ वां भाग) प्रकाशित हुआ था।[२] उसमें 'ग्रामगीत' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है 'लोकगीत' का तो संकेत भी नहीं है। उसमें अंग्रेजी के 'फोकसांग' का उल्लेख अवश्य है, जिसका हिन्दी अनुवाद आपने 'ग्रामगीत' ही किया है। श्री रवि ठाकुर द्वारा लिखित एक पत्र में प्रयुक्त 'रूरल सांग' (Rural Song) और 'फोक-लिटरेचर' (Folk literature) के पर्याय श्री त्रिपाठीजी ने क्रमशः 'ग्रामगीत' और 'ग्राम-साहित्य' लिखे हैं। अतः 'फोकसांग' और 'रूरल सांग' दोनों ही त्रिपाठीजी के अनुसार 'ग्रामगीत' ही हैं। इतना ही नहीं, आपने श्री लाजपतराय द्वारा प्रयुक्त 'फोकलोर' (Folk lore) का अनुवाद भी 'ग्रामगीत' ही किया है।[3] डॉ० सत्येन्द्र ने 'फोकसांग' के लिए 'ग्रामगीत' और 'फोकलोर' के लिए 'गीतकथा' का प्रयोग किया है।[४] इन शब्दों के निश्चित प्रयोग की समस्या अधिकांश में आज भी बनी हुई है। आज भी भूल से लोकगीत को 'ग्रामगीत' और लोक-साहित्य को 'जन-साहित्य' कहा जाता है।[५] अस्तु, जहाँ तक हिन्दी

---

१. देखिए, 'हंस' (फरवरी, १९३६) में प्रकाशित श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का लेख—'हमारे 'ग्रामगीत'
२. प्रथम संस्करण संवत् १९८६ में प्रकाशित हुआ
३. देखिए, त्रिपाठीजी को लिखे गए पत्र, कविता-कौमुदी, ५ वां भाग, पृष्ठ ७७-७८
४. ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ४६
५. देखिए, काका कालेलकर लिखित 'जीवन विहार' (१९४७) के निबन्ध 'लोकगीत (ग्रामगीत)' तथा 'हमारा लोक-साहित्य (जन-साहित्य)'

का प्रश्न है श्री त्रिपाठीजी का 'ग्रामगीत' के प्रति विशेष मोह है। उन्होंने इस विषय पर कुछ दिन पूर्व पुनः विचार किया और 'ग्रामगीत' शब्द को ही अधिक उपयुक्त बताया है। आपने लिखा है—"मैंने गीतों का नामकरण 'ग्रामगीत' शब्द से किया है, क्योंकि गीत तो ग्राम की सम्पत्ति हैं, शहरों में तो वे गये हैं, जन्मे नहीं; फिर ग्रामों का यह गौरव उनसे क्यों छीना जाय? ग्रामगीत तो शहरों में भी प्रत्येक संस्कार में, जातीय त्यौहारों और सार्वजनिक उत्सवों में गाये जाते हैं। इससे मैं उचित समझता हूँ कि गाँवों की यह यादगार 'ग्रामगीत' शब्द द्वारा स्थायी हो जाय।"[1] गावों के प्रति विशेष प्रेमवश भावना-प्रधान होकर वह यह भी कह जाते हैं कि "मेरी राय में 'ग्रामगीत' किसी पुरुष या स्त्री-विशेष की रचना नहीं हैं, बल्कि स्वयं प्रकृति का गान हैं" और "वेदों की तरह 'ग्रामगीत' भी अपौरुषेय हैं।"[2] अपने इस भावावेशी कथन को आगे की पंक्तियों में व्यवस्थित करते हुए शहरी जनता द्वारा इस गौरव का व्यर्थ लूटा जाना उन्हें स्वीकृत नहीं, क्योंकि 'लोकगीत' 'लोक' के संयोग से बना है और उसका तात्पर्य शहरी और ग्रामीण दोनों जनता है। पर चूंकि गीतों के रचयिता गाँव वाले हैं तो शहरी लोगों को व्यर्थ श्रेय क्यों दिया जाय? "अतएव मैं फिर भी यह उचित समझता हूँ कि 'लोकगीत' की अपेक्षा 'ग्रामगीत' शब्द ज्यादा उपयुक्त और न्याययुक्त है।"[3]

'ढोला-मारूरा दूहा' (संवत१९९१) में लोकगीत 'बेलड' का पर्याय-वाची बताया गया है। लेखक ने 'गीत-काव्य' को भी इसी कोटि में गिना है।[4] सिजविक ने अपनी संकुचित दृष्टि से इस विषय में अपनी मौलिक परिभाषा दी है। उसके शब्दों में 'इट इज़ ए लोर एण्ड बिलांग्ज़ टू दी इल्लिटरेट।' (यह अनुश्रुति का अंग है और जनता की सम्पत्ति है।)[5]

१, २, ३. 'जनपद' त्रैमासिक, अंक १, ग्राम साहित्य, पृष्ठ ११

४. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, द्वारा प्रकाशित, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ४१

५. ढोला-मारूरा दूहा, पृष्ठ ४०

'राजस्थान के लोकगीत' के सम्पादकों ने 'आदिम मनुष्यों के इन्हीं गीतों का नाम लोकगीत' बताते हुए लिखा है कि 'लोकगीत सच्चे काव्य हैं।'[१] रामचन्द्र शुक्ल की काव्य-विषयक व्याख्या के अनुसार उनके द्वारा 'शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा होती है।' तथा 'सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य की भीतरी रागात्मिका प्रवृत्ति का सामञ्जस्य ही कविता का लक्ष्य है।' इस पारिभाषिक अनुकरण से लोकगीत स्वभावतः 'काव्य' की संज्ञा पाने के अधिकारी हो जाते हैं।

कृष्णदेव उपाध्याय ने 'ग्रामगीत' और 'लोकगीत' दोनों को दो भिन्न कोटि में माना है। आपके अनुसार 'फोकसाँग' 'ग्रामगीत' हैं और 'बेलड' 'लोकगीत'। ''ग्रामगीत से मेरा आशय उन गीतों से है जो गेय हैं—लोकगीत वे हैं जो प्रबन्धात्मक हैं और इनमें कथा की प्रधानता है, गान नहीं।''[२] कमलाबाई देशपाण्डे के अनुसार मराठी में 'लोकगीत' 'जानपदगीत' एवं 'ग्रामगीत' तीनों ही शब्द एकार्थी हैं तथापि 'लोकगीत' शब्द ही ज्यादा प्रयोग में आता है।[३] इसमें सन्देह नहीं कि लोकगीत शब्द विषदार्थी है—उसकी व्यापकता में कोई कसर नहीं। अंग्रेजी के एक कोष में 'फोकसांग' का अर्थ है—कोई भी गीत या वीर-गीत जो लोक में उत्पन्न होकर परम्परा द्वारा दूसरों को सौंपा जाय, या कोई गीत जो इसके अनुरूप लिखा जाय।[४] राहुल सांकृत्यायन ने अपनी हाल ही में प्रकाशित एक पुस्तक में गीत के स्थान पर 'गीतें' शब्द का प्रयोग किया है।[५] मराठी

१. प्रथमावृत्ति, रा० के० ला०, पृष्ठ ५
२. जनपद : त्रैमासिक, भोजपुरी लो० गी०, पृष्ठ ३८
३. 'मराठी भाषेत लोकगीत, जानपद गीत व ग्रामगीत हे सर्व शब्द एकमेकाचे अर्थी वापरतात, तरी हल्कीं लोकगीत हा शब्द जास्त उपयोगांत येत आहे—!'
   (लेखक को लिखे गए एक पत्र से उद्धृत)
४. चेम्बर्स ट्वन्टीएथ सेन्च्युरी डिक्शनेरी, पृष्ठ ३६५
५. 'आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीतें (फरवरी, १९५१)

में यही शब्द बहुवचन में प्रयुक्त होता है और अनेक पुस्तकों के शीर्षक में भी राहुल की भाँति प्रयुक्त किया गया है, जैसे—'वर्हाड़ी लोकगीतें', 'जानपद गीतें', 'जुनी मराठी गीतें' आदि। हिन्दी के लिए यह प्रयोग अवश्य नया है।

उक्त प्रकरण से यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इन दिनों प्रचलित लोकगीत, ग्रामगीत, जनगीत, आदि विभिन्न शब्दों के प्रयोग निश्चित कर लिये जायँ। गीत शब्द की व्याख्या तो हिन्दी में बहुत हो चुकी है। अब केवल इसके वंशजों पर विचार करना है।

'लोक' वस्तुतः ग्रामीण एवं नागरिक जन के सामान्य अर्थ में सदैव व्यवहृत होता आया है, अतएव जब 'लोकगीत' का प्रयोग किया जाय तब सामान्य जनता द्वारा उद्भूत मौखिक गीत के ही अर्थ में उसे ग्रहण किया जाय। इस प्रकार लोक-नाट्य, लोक-कथा, लोक-साहित्य, आदि शब्दों के अर्थ भी व्यवस्थित हो जाते हैं। लोक-भावनाओं का प्रतिबिम्ब केवल ग्राम-मात्र की जनता से नहीं हो सकता। ग्राम की सीमाएँ संकुचित हैं और ग्राम एवं नगर के भेद को मिटाने वाले 'लोक' शब्द की परिधि दोनों को अपने में समेट लेती है। 'ग्रामगीत' (जैसा की पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने बताया) ग्राम की सम्पत्ति हैं और लोकगीत के ही अन्तर्गत आते हैं। 'लोकगीत' का सृजन कहीं भी हो सकता है, किन्तु 'ग्रामगीत' तो केवल ग्राम में ही जन्म लेते हैं। 'ग्रामगीत' के सम्बन्ध में निम्नलिखित परिभाषाएँ विचारणीय हैं—

१. 'ग्रामगीत आर्येतर सभ्यता के वेद (श्रुति) हैं।'[1]

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

२. 'ग्रामगीत प्रकृति के उद्गार हैं।'[2]

३. 'ग्रामगीत छोटे होते हैं और रचनाकाल की दृष्टि से आधुनिक भी हो सकते हैं।'[3]

—कृष्णानन्दगुप्त

१. **'छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय' की भूमिका, पृष्ठ ५**

२. **कविता-कौमुदी, ५ वां भाग, ग्रामगीतों का परिचय, पृष्ठ १**

३. **'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन', पृष्ठ ७५**

४. ग्रामगीत छोटा ही नहीं बड़ा भी हो सकता है।'[1]

—डॉ० सत्येन्द्र,

परिभाषाओं की यह खींचतान वस्तु के चित्र को सँवारने में कम सहायक होती है। परिवर्तन का प्रभाव निश्चित रूप से नगर और ग्राम की सभ्यता एवं उसके सम्बन्ध पर पड़ता है। अतएव लोक-साहित्य और ग्राम-साहित्य की स्थिति काल-क्रमानुसार बदलती रहती है। मानव-सभ्यता के कृषि-अवस्था में आते ही ग्रामों और नगरों की सभ्यता में भेद उपस्थित हुए, यद्यपि दोनों का सम्बन्ध बराबर बना रहा और दोनों एक-दूसरे को प्रभावित भी करती रहीं। नगर में ग्राम की अपेक्षा किंचित् परिष्कृत रुचि पनपने लगी। परिष्कार की यह स्थिति जब काफी ऊँची उठ गई तो ग्राम और नगर-संस्कृति का भेद स्पष्ट दीखने लगा। इससे असंस्कृत (सर्वसाधारण) और संस्कृत (परिष्कृत जन) ये दो वर्ग प्रगट हुए। लोक-साहित्य इसी समय का मौखिक परम्परागत साहित्य है जो सामाजिक स्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। ऋग्वेद की ऋचाएँ किसी समय मौखिक थीं। लिपिबद्ध होकर वे इस मौखिक परम्परा से छूट गईं। संस्कृत, पाली, अपभ्रंश आदि का अधिकांश साहित्य परिष्कृत, रुचि-सम्पन्न जन के हाथ पड़कर लिपिबद्ध हुआ और इस प्रकार लोक-परम्परा के प्रवाह से एक ओर जाकर लिपित होकर रुक गया। तत्कालीन स्थिति में वही लोक-साहित्य था, आज नहीं। लोकगीत लोक-साहित्य का ही गीत-प्रधान अंग है जिसका उद्भव नगर और ग्राम के संयुक्त साधारण-जन के मध्य होता है। वही वर्ग 'लोक' है। किन्हीं अंशों में लोकोन्मुखी प्रवृत्ति का संस्कृत-जन भी इस 'लोक' का अंश बन जाता है। अतः ग्रामगीत इस दृष्टि से लोकगीत के पूरक ही हैं। एक 'ग्रामगीत' 'लोकगीत' हो सकता है, किन्तु 'लोकगीत' 'ग्रामगीत' नहीं हो सकता। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में कहीं-कहीं 'जनगीत' शब्द का प्रयोग लोकगीत के अर्थ में किया जाता है। किन्तु 'जनगीत' विशिष्ट वर्ग के गीत का द्योतक है। लोकगीत जिस प्रकार

१. 'ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन', पृष्ठ ७५

लोक-साहित्य का अंग है, उसी प्रकार जनगीत भी जन-साहित्य के अन्तर्गत है। जन-साहित्य की व्याख्या करते हुए श्री नामवरसिंह ने लिखा है— "जन-साहित्य औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न समाज-व्यवस्था की भूमिका में प्रवेश करने वाले सामान्य जन का साहित्य है। इसलिए जन-साहित्य लोक-साहित्य से इसी अर्थ में भिन्न है कि लोक-साहित्य जहाँ जनता के लिए जनता ही द्वारा रचित साहित्य है, वहाँ जन-साहित्य जनता के लिए व्यक्ति द्वारा रचित साहित्य है।"[1] यही व्याख्या जनगीत और लोकगीत पर लागू होती है।

श्री नामवरसिंह ने अपनी व्याख्या में यह स्पष्ट बताया है कि लोक-साहित्य का रचयिता लोक-समाज के भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम-मात्र है। उसका व्यक्तित्व लोक-भावों में तिरोहित होकर लोक-स्वरूपी हो जाता है। जन-साहित्य के रचयिता का व्यक्तित्व अपना वैशिष्ट्य नहीं खोता। उसका साहित्य लोक-साहित्य की तरह मौखिक नहीं होता बल्कि प्रेस द्वारा मुद्रित और प्रकाशित होता है। संक्षेप में, 'जन-साहित्य' शिष्ट व्यक्ति द्वारा रचा हुआ वह साहित्य है जो सह-संवेदना के फलस्वरूप सामान्य जन के लिए अभिव्यक्त होता है।"[2] दुहराने की आवश्यकता नहीं कि यही भेद 'लोकगीत' और 'जनगीत' पर घटित होता है।

लोकगीत का सृजन संगीत के माध्यम से लोकरंजक होकर परम्परा में सम्मिलित होने के क्रम में व्यक्ति और समष्टि के भेद को नष्ट कर देता है। किसी व्यक्ति-विशेष द्वारा निर्मित कोई गीत जन-मानस को आन्दोलित कर उसके स्पन्दन के स्वरों से मेल खाने लगे और कालान्तर में उसी भाँति अथवा थोड़े परिवर्तन के साथ जीवित रहे तथा निरन्तर प्रयोग में आता रहे तो वह गीत 'लोकगीत' ही कहलाएगा। उसे 'लोकगीत' की संज्ञा इतिहास और प्रयोग के सहारे प्राप्त होगी। मूल में कोई गीत लोकगीत नहीं कहा जायगा। परिस्थिति-वश समाज में आनुष्ठानिक अथवा औपचारिक

१. जनपद त्रैमासिक (अंक २), पृष्ठ ६३, ६४

२. जनपद (अंक दो), पृष्ठ ६४

मूल्य पाकर विशेष संस्कृति की पृष्ठभूमि में ही वह लोकगीत बनता है। प्रत्येक गायक अथवा गीत-निर्माता के साथ कर्म-रती समाज होता है। समाज की प्रतिक्रिया गायक अथवा गीत-निर्माता पर होती है। यह समाज ग्राम अथवा नगर कहीं का भी हो सकता है। यदि व्यक्ति-प्रसूत कोई गीत समाज के भावों को आन्दोलित कर टिक गया तो कालान्तर में वही लोकगीत होगा, इसमें सन्देह नहीं।

अस्तु, 'लोकगीत' और 'जनगीत' शब्दों का यह पारस्परिक भेद लोक-साहित्य के प्रति बढ़ती हुई रुचि को देखते हुए ध्यान देने योग्य है।

७

लोक-मानस की त्रिधाभिव्यक्ति

गीत मनोभावों की अभिव्यक्ति का वह माध्यम है, जिसमें संगीत का अस्तित्व धुन के रूप में निहित होता है। 'लोक' से सम्बन्धित होते ही उसकी व्यक्तिपरक महत्ता सामूहिक तत्त्वों के अनुरूप ढल जाती है। व्यक्तित्व का जो आभास कला-गीतों में मिलना सहज और अनिवार्य है, वैसा लोक-गीतों में नहीं, क्योंकि लोकगीत व्यक्ति-गीत नहीं हैं; उनमें मानव के समूहगत भावों की अभिव्यक्ति होती है।

लोकगीत का निर्माण

इसी धारणा के आधार पर लोकगीत-विशेषज्ञों का मत है कि उनका निर्माण कोई व्यक्ति नहीं, जन-समूह करता है। यह प्रश्न किंचित् विवाद का विषय भी रहा है। प्रोफेसर किटरिज और जेम्स ग्रिम की राय तो यही है कि लोकगीतों का निर्माणकर्ता जन-समूह होता है। नृतत्व-शास्त्र एवं समाज-विज्ञान के सिद्धान्तों ने इस मत को अनेक प्रमाणों से पुष्ट किया है। आदिम मानव-समाज के अध्येता यह मानते हैं कि मानव ने अपने मूल भावों की अभिव्यक्ति सदैव ही सामूहिक गीतों में की है। वह अवस्था ऐसी थी जब कि जन की समस्त बिखरी भावनाएँ एक होकर गीत-रूपी अभि-व्यंजना के सागर की ओर दौड़ी होंगी, यह असम्भव नहीं। काडवेल का

मत है कि आदिम अवस्था में मानव की सामाजिक चेतना अपने साधारण रूप में थी, जो क्रमशः प्रकृति के साथ संघर्ष करते हुए गहरी होती गई। मानव और प्रकृति का यह संघर्ष सामूहिक चेतना को बढ़ाता गया। प्रकृति के विकराल रूप से मानव भयभीत हुआ और किसी पशु को मारने पर अपनी विजय में प्रफुल्लित भी। प्रकृति से उसका सान्निध्य उसके विकास के आरम्भ से बना हुआ है। पशु-पक्षियों की किलकारियाँ और शब्दों का लयबद्ध उच्चारण मन की विभिन्न अवस्थाओं के अनुरूप घटित होता रहा। अतः अभिव्यक्ति के क्षेत्र में मानव के वे तत्कालीन मनोभाव, अपने अनगढ़ रूप में, शारीरिक मुद्राओं के साथ गीत, संगीत और नृत्य के जन्म की कहानी बने।

लोकगीतों के निर्माण का सम्बन्ध शब्दों की उत्पत्ति के साथ है। किसी व्यक्ति के गीतबद्ध मनोभाव यदि जनभावों के अनुरूप हुए, तो वह सहज ही उन्हें अपनाकर उनमें अपने स्वभाव और सुविधानुसार परिवर्तन कर लेता है। गीत का यही संस्कार लोकगीत है।

लोकगीत एवं लोक-संगीत

लोकगीतों के साथ लोक-संगीत का उल्लेख आवश्यक है। एक पाश्चात्य विद्वान् के अनुसार कालान्तर में सहज संगीत (Spontaneous music) ही लोकगीत कहलाया। लोकगीत के लिए अंग्रेजी शब्द 'फोक-सांग' (जर्मन शब्द volkslied से उत्पत्ति) है, जिसके लिए कहा गया है कि वह संगीत के क्षेत्र में सच्चाई और दृढ़ता के नाते अपना विशेष महत्त्व रखता है।[१] इसमें दो मत नहीं कि लोक-संगीत लोकगीत के अभाव में केवल

१. Folksong, a rather awkward translation of German word Volkslied, but nevertheless a word which stands for a very definite fact in the realm of music.

—एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (९), १४ वाँ संस्करण (१९२९–३२), पृष्ठ ४४७

अर्थहीन ध्वन्यालाप-मात्र है। लोक-मानस अपने मनोभावों की धुनों में शब्दों का प्रयोग इसलिए करता है कि उनकी अभिव्यक्ति निरर्थक न हो। या यों कहिए कि सार्थक शब्दों के माध्यम से धुनों के सहारे लोक-भावों को नैसर्गिक विकास मिलता है। वैसे तो किन्हीं अंशों में निरर्थक शब्द-व्यंजना भी गीतों में मिलती है, पर धुनों को सँभाले रखने में उनकी निरर्थकता सार्थक हो जाती है। विशेष रूप से यह निरर्थक शब्द-व्यंजना आदिम अवस्था की सूचक है, जो अपनी परम्परात्मकता के कारण आज तक स्वभावतः लोकगीतों में बनी हुई है। आज भी आदिवासियों के गीतों में अर्थहीन शब्दों का बाहुल्य है। हो–हो–होऽऽ–हो–हो-ऽऽ–डिम्–डिम्–डिम्–डि–र–र–र–अथवा आ–आ–आ–आ–आऽ–, रे–रे-ऽऽ रे–, जी ऽऽऽ जीऽजीऽजी, आदि ऐसी शब्द-ध्वनियाँ हैं, जिनका टेका गीतों के लिए अब अनिवार्य बन गया है।

लिखित रूप के अभाव में शब्दों का सम्बन्ध सदा ही ध्वनि और अर्थ से रहा है। अर्थ-तत्त्व ध्वनियों (धुनों) के द्वारा लोक-गीतों में अभिव्यक्ति पाता है। उसमें जन-मानस के मनोवेगों और रंगों का समावेश स्वाभाविक है, क्योंकि लोक-भाषाओं के शब्द इस दृष्टि से अपने-आप में समृद्ध हैं। उनमें एक वैशिष्ट्य होता है। प्रयोगकर्ता एवं उनको सुनने-समझने वाला ही उनकी निश्चल और परिवेशयुक्त अभिव्यक्ति परख सकता है। अतएव, चिरपरिचित मुहावरे में कहें, तो लोकगीत एवं लोक-संगीत एक ही रथ के दो पहिये हैं—एक की अनुपस्थिति में दूसरा अनुपयोगी है।

सामुदायिक गान की प्रवृत्ति

व्यक्ति प्रारम्भ से ही समूह में रहने का आदी रहा है। यही उसका स्वभाव है, प्रवृत्ति है। अतः इस प्रवृत्ति-विशेष के कारण सामूहिक अभिव्यक्तियों को प्रश्रय मिला। संगीत मानव की विकासवादी अवस्था में उसके हर्ष, विषाद, उल्लास आदि का द्योतक रहा है। इस संगीत में निरर्थक शब्दों के जाल से वह धीरे-धीरे छूटता गया। सामूहिक गान सार्थक होने लगे।

छन्दों का ज्ञान अथवा आविष्कार न होने पर भी बन्धन लय में सुविधा-जनक हुए। ध्वन्यान्तर और स्वरों का ज्ञान शब्दों के सार्थक प्रयोगों के साथ मानव समझने लगा। यह मानव की वह अवस्था थी, जब अपने पशुओं के लिए चरागाहों की खोज में वह एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर बढ़ रहा था। कृषि का ज्ञान होने पर अपनी फसल की वृद्धि के विचार से उसकी घुमक्कड़ वृत्ति को पहली बार चोट पहुँची। उसके कदम रुके। गाँव बसे और तभी उसके गीत और संगीत का रूप प्रकट हुआ, जिसे हम ग्राम-गीत अथवा ग्राम-संगीत कहते हैं। अतः अपनी आदिम अवस्था से निकलकर जब मनुष्य पूर्णरूपेण कृषि-अवस्था का मनुष्य कहलाने योग्य हुआ अथवा जब उसमें एक विशेष प्रकार की संस्कृति और बुद्धि का उदय हुआ, तभी गीत और संगीत के स्वरूप कुछ निश्चित हो पाये। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में गाथाओं का उल्लेख हमें मिलता है, जो वस्तुतः व्यवस्थित सामाजिक अवस्था के सूचक हैं। ये गाथाएँ गीत अथवा पद्य ही हैं, जो ऋग्वेद में एक भिन्न साहित्य की द्योतक भी हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार ये गाथाएँ मानव-सृजित हैं, जिनका उद्देश्य विशेषतः किसी महान् व्यक्ति के सत्कर्मों का बखान करना रहा है। शतपथ ब्राह्मण में, अवदान के रूप में, महाभारत में तथा अन्य संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों में गाथाएँ गाने की परम्परात्मक प्रथा के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। अपभ्रंश, पाली आदि में भी गीतों की यह परम्परा धुन और गेय पद्धतिसहित विद्यमान रही है। यज्ञ, जो वैदिक युग में आर्यों का परम धर्म था, संगीत-शून्य कभी न रहा। यह वही संगीत था, जो अपने आदिम रूप से क्रमशः विकसित होता हुआ सामुदायिक गान के रूप में प्रतिफलित हुआ। यद्यपि ग्रन्थों में उसे धार्मिक ही माना गया है, तथापि वह लौकिक संगीत के अनुरूप रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं। प्राचीन ग्रन्थों में सामूहिक गान, नृत्य, उत्सव आदि का उल्लेख यदि लोकगीत अथवा लोक-संगीत की ओर संकेत नहीं करते, तो उन्हें काल्पनिक भी नहीं कहा जा सकता। अतः लोकगीत और संगीत उतने ही सत्य हैं, जितने चाँद और सूरज।

लोकगीतों के सामान्य लक्षण

संसार के भिन्न-भिन्न देशों में बसने वाले मानव अपने पर्व-उत्सव के अवसर पर गाते और नाचते हैं। उनकी भाषाएँ अपनी होती हैं, जिन्हें पूर्वजों से सीखकर वे बराबर प्रयुक्त करते रहते हैं और उनमें एक प्रकार की ग्रामीणता होने के कारण वे अपनी स्वाभाविक सचाई और लोकस्वरूपा अभिव्यक्ति की दृष्टि से हृदयस्पर्शी होती हैं। इस प्रकार भाषाएँ गीतों की कसौटी बन जाती हैं।

गीतों में पाई जाने वाली एक सामान्य स्वच्छन्दता उनकी दूसरी विशेषता है और अधिकांश रूप से इस स्वच्छन्दता में निहित संगीत भी बहुत-कुछ मिला-जुला होकर परम्परारहित नहीं होता।

लोकगीत अपने-आप में लय-प्रधान होते हैं। अध्येताओं का कथन है कि प्रायः दुनिया के सभी लोकगीतों की धुनें भारतीय धुनों से मिलती हैं तथा उनके परिवर्तित रूप भी मिलते हैं। शास्त्रीय संगीत के ज्ञाताओं के मत में गीत 'लयबद्धभावशबलताजन्य' वस्तु है, जिसमें एक व्यक्ति और समूह दोनों द्वारा ही गाये जाने वाले गीत सम्मिलित हैं। पाश्चात्य संगीतज्ञों का अनुमान है कि लोकगीत केवल अपनी सामूहिक वृत्ति के कारण ही १५वीं शताब्दी के पश्चात् टिके रह सके। किन्तु भारतीय गीतों में पाई जाने वाली स्थिति से यह समीचीन प्रतीत नहीं होता। अलग-अलग हिस्से के लोकगीतों में भिन्न-भिन्न लक्षण पाए जाते हैं, जिनके द्वारा हम उनके स्थायित्व अथवा अस्थायित्व की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। किसी पाश्चात्य लेखक ने दुनिया के लोकगीतों का स्वभाव बताते हुए लिखा है—"फ्रांस के गीत या तो सुन्दर (स्वादु) होते हैं या नाटकीय, जर्मनी गीत बोझिल एवं हृदय-स्पर्शी, सामान्य यूरोपीय गीत गेय, गुनगुनाने योग्य, पुष्ट एवं असम्बद्ध, रूसी गीत उदास और अनगढ़, स्पेनी मन्द और स्वप्निल तथा हिब्रू गीत आध्यात्मिक और प्रभावशाली होते हैं। अमरीकी-नीग्रो गीत विलक्षण, सुन्दर एवं गहरे धार्मिक होते हैं।"

लोकगीत और नृत्य

संगीत के साथ नृत्य को हम भुला नहीं सकते। जहाँ तक लोक-नृत्यों का प्रश्न है, वे गीतों से जुड़े हुए हैं। दोनों ही आदिम मानव की प्रधान अभिव्यक्तियाँ रही हैं। गीत में संगीत भाव-प्रधान शाब्दिक अभिव्यक्ति का रूप धारण करता है और नृत्य में भावनाएँ अभिव्यक्ति के हेतु आंगिक मुद्राओं के रूप में प्रकट होती हैं। एक मूलतः लय-प्रधान है और दूसरा ताल-प्रधान। नृत्य ताल के बिना सम्भव नहीं, वैसे ही गीतों का भी लय के अभाव में सृजन होना असम्भव है। गीत में एक धुन होती है, किन्तु धुन के माध्यम से किसी एक कड़ी को एक ही ढंग से अधिक समय तक गाया जाना प्रायः पसन्द नहीं किया जाता। यह आवृत्ति-पद्धति कहलाती है, जो प्राचीन गीतों में विशेष रूप से पाई जाती है। ध्रुवक (Refrain) भी आवृत्ति ही है, किन्तु वह किसी विशेष पंक्ति की होती है। आवृत्ति का प्रयोग 'ढोलामारू' जैसी गीत-कथा अथवा 'हीड़' जैसे गुर्जर लोक-काव्य में विशेष परिलक्षित होता है। जो गीत नृत्य से सम्बन्धित होकर चलते हैं, उनमें आवृत्ति अधिक सहायक सिद्ध होती है। वैसे तो कई गीत ऐसे होते हैं, जिन्हें भिन्न-भिन्न धुनों में गाया जा सकता है, पर ताल से सम्बन्धित होते ही उनकी लय भी निश्चित हो जाती है। वस्तुतः लोकगीत और लोक-नृत्य में अलग-अलग गुण होने पर भी उनका आन्तरिक सम्बन्ध होता है।

गीत और नृत्य ये दोनों संगीतात्मक अभिव्यक्तियाँ आज भी भारतीय एवं पश्चिमी लोक-संगीत में समान रूप से निहित हैं। सन्ताली कर्मा, रिंचा, लगणे, सोहराई, दोंग, मारवाड़ी झूमर या मेवाड़ी रासधारी, मिथिला के झरनी अथवा मालवा के खड़े या आड़े नृत्य, भीलों के ओली, दुइपाली आदि गीतों से सम्बन्धित हैं। पश्चिम का तो आधुनिक संगीत इससे बचा नहीं। 'बैच्च सूट' (Bach Suite) आदि नृत्य का और 'बैच्च फ्यूग' (Bach Fugue) गीतों का ही विकसित रूप है। बेथोवन के गीतों की मन्द्र ध्वनि लोकगीतों से संबंधित है और 'शेरो' (Scherro) के पीछे नृत्य का प्रभाव स्पष्ट है। इस प्रकार स्ट्राविन्स-की के 'राइट ऑफ स्प्रिंग' का प्रारम्भ

भी एक गीत-तत्त्व पर आधारित है। वास्तव में जिसे पश्चिम में 'सिम्फोनिक' संगीत कहा जाता है, उसका अधिकांश मूल में नृत्य और संगीत के संयोग का ही प्रतिफल है।

अचिन्त्य अभिव्यक्ति

प्रोफेसर चाइल्ड्स इसे स्पष्टतया स्वीकार नहीं करते कि लोकगीत की उत्पत्ति संगीत और नृत्य से होती है, किन्तु जब हम कतिपय अंग्रेजी शब्दों की उत्पत्ति-विषयक चर्चा करते हैं, तो इसमें हमें सन्देह नहीं रहता। उदाहरणार्थ अंग्रेजी के 'बैलेड' (Ballad) शब्द की उत्पत्ति फ्रेंच शब्द 'बैलेर' (Ballare) से हुई है, जिसका तात्पर्य है नृत्य। ऐसा प्रतीत होता है कि सामूहिक नृत्यों में ही 'बैलेड' लोकगीत की उत्पत्ति निहित है और संगीत इससे निश्चय ही अलग नहीं। पर सामूहिकता के ठीक विपरीत 'इम्प्राविजेशन' के सिद्धान्त के प्रणेताओं का मत है कि लोकगीत अचिन्त्य अभिव्यक्ति है। किसी अवसर-विशेष पर उल्लास और हर्ष में डूबा हुआ जन-समुदाय किसी एक की प्रेरणा से अचिन्त्य रूप से गीत-रचना करने लगता है।

त्रिधाभिव्यक्ति

जो हो, गीत, संगीत और नृत्य तीनों ही लोक-मानस की पूरक अभिव्यक्तियाँ हैं; तीनों ही एक-दूसरे से पृथक् नहीं की जा सकतीं। जहाँ हर्षोल्लास का सामूहिक रूप प्रकट होता है, वहाँ तीनों ही संयुक्त होकर व्यक्त होती हैं। संक्षेप में इन्हें हम लोक-मानस की 'त्रिधाभिव्यक्ति' कहें, तो अनुपयुक्त न होगा।

८

लोकगीतों में रंग-वैचित्र्य

भारतीय काव्य एवं साहित्य में रंगों का उल्लेख प्रायः सौन्दर्य-सृष्टि के निमित्त एवं विविध वातावरण के संश्लिष्ट चित्रण में आलंकारिक योजना के उद्देश्य से किया गया है। जिन रंगों का उल्लेख हमारे पूर्ववर्ती परिष्कृत साहित्य में उपलब्ध है वे आदिम वृत्तियों के आकर्षण से ऊपर उठे हुए हैं। उनमें क्रमशः नई-नई रंगतें (शेड्स) और मूल रंगों के अतिरिक्त सम्मिश्रित प्रभाव उत्पन्न होता गया है। यही कारण है कि लोक-साहित्य में प्रयुक्त रंगों में जहाँ मौलिकता अनपढ़त्व और चटकीलापन अवस्थित है वहाँ परिष्कृत साहित्य में अभिजातवर्गीय रुचि को परितोष प्रदान करने वाले रंग विषयक विकास, वैचित्र्य, छटा और प्रभाव मिलते हैं। किन्तु रंग, ध्वनि, गन्ध और स्पर्शयुक्त चित्रों की भी भारतीय साहित्य में कमी नहीं है। उन चित्रों में प्रकृति का प्रतिबिम्ब उन्हीं उपकरणों से उद्भासित हुआ है जो लोक-साहित्य में अपनी स्वाभाविक, अनलंकृत और सांकेतिक योजना द्वारा प्रकट होते हैं।

प्रकृति से अपनाये गए रंग सदैव ही सभ्य-असभ्य सभी प्रकार के मानव-मात्र को आकर्षित करते रहे हैं। लाल, हरित, नील, पीत, स्वेत, श्याम आदि इसी प्रकार के रंग हैं। गन्ध, ध्वनि और स्पर्श के तत्त्वों से पूरित वातावरण प्रस्तुत करने वाले शाब्दिक उपकरण सहज ही रंगों का भास

उत्पन्न करते हैं। किंचित् रूपों में रंगों का उल्लेख अपरोक्ष रीति से भी होता है।

रंग प्रकृति के अन्तर्गत हैं। दार्शनिक दृष्टि से सांख्यवादियों और वेदान्तियों के लिए यह गौण विषय है, किन्तु प्रकृति की अनुकम्पा से उत्पन्न होने वाले जिन सोलह पदार्थों में शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध की मूल पंचतन्मात्राएँ हैं, उनमें चक्षु से रंगों का प्रधान सम्बन्ध है। यद्यपि यह दृष्टि का विषय है तथापि श्रवण, स्पर्श और गन्ध से भी उसका आभास स्वाभाविक है। अतः रंग-विशेषण के अभाव में भी अन्य सम्बन्धित उपकरणों द्वारा निश्चित रंगाभास हो जाता है। जिस तरह कुछ वस्तुओं के उल्लेख-मात्र से पूर्ण प्रतिबिम्ब बन जाता है, उसी प्रकार कतिपय सांकेतिक शब्दों से (जिनके प्रति पूर्वापर सम्बन्ध होता है) रूप और रंग का प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। प्रकृति-वर्णन में मेघों की कला से इन्द्रधनुष के रंग, वृक्षों की हरिताभा, सरिताओं का फेनिल जल, पक्षियों के विविध रूप आदि अव्यक्त प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार अनेक वस्तुओं में रंगों की सत्ता है जो भावनाओं को युगों से अनुरक्त किये हुए है।

सौन्दर्य एवं रंग

लोकगीतों में रंगों का यद्यपि प्रत्यक्ष उल्लेख है तथापि अप्रत्यक्ष शब्द-योजना की भी उनमें कमी नहीं जो विकसित जातियों के गीतों में उपलब्ध है। सौन्दर्य की चर्चा करते हुए कला-मर्मज्ञ इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सौन्दर्य हमारे सजग मानस में निर्माण होने वाले विभिन्न वस्तु-तत्त्वों का एकीकरण है। अतएव अप्रत्यक्ष शब्द-योजना भी उक्त एकीकरण में योग प्रदान करती है। किन्तु साधारण स्थिति में सौन्दर्य केवल आनन्द की वस्तु है। वह दृष्टि के माध्यम से मन को तृप्ति और प्रेरणा देता है। चित्रकला में रेखाएँ वस्तु को रूप देती हैं और रंग उस रूप के सौन्दर्य को उभारते हैं। बालकों द्वारा बनाए जाने वाले चित्रों को देखने से ज्ञात होगा कि उनमें पेड़ों का रंग हरा, आकाश का नीला, सूरज का लाल और पहाड़ों का

काला होता है। रंगों के प्रयोग की यह नैसर्गिक वृत्ति है। लोकगीतों में यही वृत्ति कार्य करती है। उनमें भी हरे पेड़, नीले आसमान और 'राते' (लाल) सूरज की कल्पना है। लोकगीतों के रंग स्थिर हैं—उनमें गत्यात्मकता का अभाव है। वस्तुतः लोकगीतों में रंगों के प्रति सांकेतिक निर्णय मिलता है जो संस्कार रूप में जनमानस की रुचि को प्रभावित करने की क्षमता रखता है।

रंगों की अवस्था

हर्बर्ट रीड ने चित्रकला में प्रयुक्त होने वाले रंगों की तीन अवस्थाएँ बताई हैं। प्रथमावस्था को 'हेराल्डिक', द्वितीय को 'हारमोनिक' और तृतीय को 'प्यूअर' कहा है। 'हेराल्डिक' अवस्था अत्यन्त प्राचीन है जिसमें रंगों का प्रयोग संकेतार्थी रहा है। प्रागैतिहासिक एवं पूर्व प्रागैतिहासिक चित्रों में यह अवस्था विद्यमान है। बालकों के चित्र भी इसी अवस्था के अन्तर्गत आते हैं। मध्यकालीन कला में रंगों के प्रयोग-विषय में किंचित् परिवर्तन हुए। प्रयोग निश्चित नियमों में बँधे रहे। रूढ़ हो जाने से विशेष वस्तुओं के विशेष रंग क्रमशः निर्धारित हो गए—मूल में चाहे वे यथार्थ न हों। रीड का कथन है कि यह 'हेराल्डिक' प्रयोगावस्था १५वीं शताब्दी तक चलती रही। स्वीकार करना होगा कि लोकगीतों में यही अवस्था हमें मिलती है। संसार के किसी भी भाग के गीत क्यों न हों, यह अवस्था उनमें निश्चित रूप से विद्यमान है। लोकगीतों की जड़ें सुदूर काल में जमी हैं, इसलिए उनके विश्वास, रूढ़ प्रयोग, शैली और भाषागत सारल्य नवीन नहीं हैं। उनमें परम्परा का पोषण सर्वोपरि है। जहाँ तक रंगों का प्रश्न है, लोकगीतों में पहले से चले आते हुए रंगों में परिवर्तन कम हुए हैं। 'हारमोनिक' अवस्था के रंगों में छाया-प्रकाश (लाइट एण्ड शेडस्) का मेल हुआ और 'प्यूअर' में रंगों का मूल्य स्पर्शगत आकर्षण की दृष्टि से आँका गया जिसमें रूपगत पूर्णता एवं जीवन के महत्त्व की वृद्धि हुई। लोकगीतों में 'हारमोनिक' अवस्था कहीं-कहीं मध्यकालीन प्रयोगों के सहारे

आई है; 'प्यूअर' अवस्था की उनमें किंचित् सम्भावना भी नहीं है। वह परिष्कृत रुचि के द्योतक साहित्य में खोजी जा सकती है।

लोक-साहित्य के अध्ययन-विकास को देखते हुए रंगों की दृष्टि से भारतीय लोकगीतों की परख करना अनिवार्य प्रतीत होता है। प्रागैतिहासिक मानव के गुफा-चित्रों ने प्रागैतिहासिक कला के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के अन्वेषणों का द्वार खोल दिया है। पाश्चात्य विद्वानों ने उपलब्ध कला-चिन्हों से आदिम वृत्तियों का बड़ा सूक्ष्म अध्ययन किया है। प्रागैतिहासिक मानव की रुचि, उसके प्रिय रंग, प्रयोग-विधि, विविध गति आकर्षण आदि का विस्तारपूर्वक अध्ययन हमारे सम्मुख है। चित्र यद्यपि स्थिर प्रमाण है, किन्तु इस दृष्टि से लोकगीतों का महत्त्व भी कम नहीं। लोकगीतों में बलि के उल्लेख, टोने-टोटकों को प्रश्रय, मानवीय रागद्वेषों की अभिव्यक्ति, अन्ध-विश्वास, रूढ़ रुचि आदि में कतिपय आदिम वृत्तियों के अवशेष छिपे हैं। गीतों में वैसे क्रमशः परिवर्तन होते रहते हैं, किन्तु भावों में शब्दों की अपेक्षा परिवर्तन कम होते हैं। उनका संगीत-तत्त्व भी आदिम अवशेषों का संवाहक है। लम्बी धुनें, पशुओं की ध्वनियों की नकल और निरर्थक शब्द-योजना प्राचीन प्रभाव के द्योतक हैं। लोक-गीतों के रंग भी इस दृष्टि से अपरिवर्तनशील हैं। उनमें भी आदिम रुचि के द्योतक प्रभाव लक्षित होते हैं। कतिपय रंग रूढ़ होकर उसी अवस्था में प्रयुक्त होते आ रहे हैं। क्योंकि उनका परम्परा, साहचर्य, धर्म-सम्बन्धी विश्वास और मनोवैज्ञानिक रोमान से सम्बन्ध है।

प्रवृत्ति की खुली हुई पुस्तिका सदैव ही लोक-मानस के अध्ययन की सामग्री रही है। विभिन्न वस्तुओं के रंग, छटाएँ, और प्रभाव लोक-गायकों ने सीधे-सीधे अपना लिये। उन्हीं के साहचर्य से उन्होंने एक-दूसरे के पूरक रंगों और मूल रंगों के प्रति अपनी रुचि दृढ़ की। लोकगीतों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि लोक-कवि रंगों के बाह्य से ही अधिक मुग्ध हैं; अतः उसकी सीमाएँ निश्चित हैं।

स्थायी रंग

भारतीय लोकगीतों में कुछ रंग स्थायी हैं। लाल रंग ही लीजिए। लाल के अन्य भेद गुलाबी, नाखूनी, मजीठी, महावरी, मेंहदिया, सिन्दूरी, राता, हिंगलाज (हिंगलू), आदि वस्तुपरक रंगत के द्योतक हैं। ये भेद लोकगीतों में जीवन की उपयोगी वस्तुओं से ही सादृश्य की भूमि पर अपनाये गए हैं। लाल रंग अन्य सभी रंगों की अपेक्षा सभ्य किंवा असभ्य सभी जातियों को विशेष प्रिय है। सभी युगों में यह पसन्द किया जाता रहा है, क्योंकि यह चटकीला, प्रेरणादायी, उत्तेजक है, और वृद्ध, बालक, युवक, वनचर, नागरिक, आदि सभी प्रकार के, सभी आयुओं के व्यक्तियों के लिए स्वभावानुकूल है। लाल वस्त्रों से पशुओं को उत्तेजित किया जाता है। लाल रंग बलि का द्योतक है। किन्हीं अंशों में रक्त से सादृश्य होने के कारण यह मानव की मूल वृत्तियों को तत्काल प्रभावित करता है। आदिम अवस्था से ही लाल रंग मन को आकर्षित करता रहा है। भोजपुरी, मालवी, राजस्थानी, मैथिली, कुरुप्रदेशी, छत्तीसगढ़ी, पंजाबी, बुन्देली, अवधी, बिहारी, महाराष्ट्री, आदि सभी भारतीय भाषाओं के गीतों में लाल और उसकी कुछ अन्य रंगतें एवं चटकीलापन निहित है।

भोजपुरी गीतों में प्रसव के समय धाय अभिमान से गृह-स्वामी को लाल पाट की जाजम लाने की आज्ञा देती है।[1] दुखित पुत्रहीना रुक्मिणी को इस बात का खेद है कि वह जीवन में कभी लाल और पीला वस्त्र पहनकर पति के साथ वेदी पर नहीं बैठी,[2] प्रियतम की अनुपस्थिति में नायिका अपनी चुनरी लाल रंग में रँगने से मना करती है,[3] और मालवी

१. "उहवाँ से धगड़िनि दुअरा आइलि, बोल बोलेले अभिमान ए।
लाल पाट के जाजिम माँगले, खोरी खोरी डसाव ए॥"
—भोजपुरी ग्रामगीत, (हि० सा० स० प्र०) पृष्ठ ७३

२. "लाल पियर ना पहिरली चउक ना बइठली हो।" वही, पृष्ठ ८२

३. "हम ना रँगइबों लाली चुनरिया, पिया बिनु सयराँ अन्हार।"
—वही, पृष्ठ ६४

गीतों की नायिका को युद्ध की मंहगाई से डर है कि कहीं उसका लाल कुंकुम फीका न पड़ जाय।[1] प्रसन्नता की अवस्था में प्रियतमा अपने प्रियतम के लिए लाल पगड़ी भेजती है और नित्य ही 'राता' सूरज उदित होते देखती है। राजस्थानी नायिका अपने प्रियतम का मोलिया मजीठे से भरे मटकों में रँगने के लिए आतुर है।[2] वह प्रियतम के संयोग के लिए हिंगलू ढोलियाँ (पलंग) घड़ाती है तथा देवी-देवताओं को लाल-सिन्दूरी वस्त्र से सुसज्जित देखने की अभिलाषा रखती है।[3] मैथिल स्त्री अपने नव-जात शिशु को लहराता हुआ लाल पटोर पहनाकर दूध पिलाने की इच्छा रखती है (मैथिल लोकगीत, ७२)[4] । एक गीत में प्रियतम स्वयं अपनी प्रियतमा से लाल पलंग पर क्रीड़ा करने का अनुरोध करता है (मैथिल लोकगीत, ७७)[5] । कुरुप्रदेश की नायिका लाल जंगारी इसलिए पहनना नहीं चाहती कि उसके राजाजी का बिड़ला लाल है, (आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीतें, पृष्ठ १०३)।[6] छत्तीसगढ़ी नचौरी में प्रियतमा पति के अभाव में किसके लिए मेंहदी रचाए, यही दुख करती है। महाराष्ट्र के जीवन में अनेक शुभ प्रसंगों में लाल रंग का सम्बन्ध है, (मराठी

---

१. "जी हरो रंग पीलो रंग मोगो कर द्यो, कुंकुं कर दयो फीको।"
—मा० लो० पृष्ठ २०

२. "माटा भरिया ए मजीठांजी, म्हारा सायब को रंग दे मोलियो।"
—रा० के लो०

३. "भेरूजी चसयाजी लाल सिन्दूर सूँ, धूप रही गलराय
लाल लंगोटो तिलक सिन्दूर को, बैठा बजरंग आसण ढाल।"
—राज० लो०

४. "लहरत लाल पटोर पहिनि घर जायब रे ललना।"

५. "ललना चलु धनि लालि रे पलंगिया कि हों तोहिं विहुँसब रे।"
पृष्ठ १२, १५

६. "लाल जँगारी मनरा मैं ना पेरूँ लाल मोरे राजाजी का बिड़ला।"

ओव्या, बाजत आलेठोल)[1]। बुन्देली लोक-गायक इसुरी तो सिन्दूर से भरी माँग पर मस्त होकर गा उठते हैं—

मोतिन माँग भरी सेन्दुर से
बेंदा देत बहारें ।
ठाँडी हती टिकीं चौखट सें,
सहजइ अपने द्वारे ।[2]

अवधी के गीतों में परदेश जाते हुए प्रियतम अपनी प्रिया को सिन्दूर दे जाता है ।[3] इस प्रकार लाल रंग का उल्लेख अनेक प्रकार की वस्तुओं के लिए भारतीय गीतों में हुआ है । गुलाबी, नाखूनी, आदि अन्य हल्की रंगतों के उल्लेख बहुत कम प्राप्त होते हैं । मालवी गीतों में अवश्य नाखूनी का उल्लेख मिलता है । काश्मीरी गीतों में गुलाबी गालों की चर्चा भौगोलिक स्थिति के कारण है । दक्षिणवर्ती गीतों में तो इन हल्की रंगतों का प्रायः अभाव है । गहरा लाल ही सर्वत्र व्याप्त है ।

हरा प्रकृति का अपना रंग है, जो पीत और नील के सम्मिश्रण से तैयार होता है । पीताम्बर कृष्ण के उत्तरीय के रूप में भारतीय गीतों का प्रिय वस्त्र है । पीत रंग सूर्य-प्रकाश की तासीर वाला है और नील ठण्डक की आभा रखता है । अतः हरे रंग में दोनों का समावेश है । राजस्थान में उसका प्रयोग अनेक वस्तुओं की रंगत दिखाने के लिए किया गया है । 'सुआ पंखी' वस्तुतः हरा रंग ही है जो सुआ (तोता) के पंखों की रंगत का द्योतक है । मैथिल गीतों में हरे बाँस की बाँसुरी कृष्ण के अधरों के बीच

१, "दूरुन दिसते तांतो बाजी माड़ी लाल, सीताबाई बालन्तीणं शालीचे दिल पाक"

२. इसुरी की फागे, पृष्ठ ७

३. 'मैया, दै गये कुपवन तेल हरपवन सेन्दूर' (हमारा ग्राम साहित्य, पृष्ठ १३३)

शोभा पाती है[१], हरे बाँस के मण्डप छवाये जाते हैं[२], हरे झुरमुट और हरे वन उसके लिए आकर्षण के विषय हैं। राजस्थान में मैथिल की अपेक्षा हरा रंग कम प्रयुक्त हुआ। फिर भी जल-देवता की पूजा के समय राजस्थानी स्त्री हरे बाँस की छबड़ी में चमेली का फूल रखना चाहती है।[३] कुरुप्रदेश के गीतों में चावल उजले और मूँग सदैव हरे बताये गए हैं।[४] हरा प्रकृति की रंगत लिये है। अनेक हरी वस्तुएँ जीवन में उपयोगी हैं। भारतीय गीतों में लाल के बाद हरा रंग ही अधिक आकर्षित करने की सामर्थ्य रखता है।

अन्य रंगों के उल्लेख वस्तु-सादृश्य की दृष्टि से हुए हैं जिन पर आगे विचार किया जा रहा है।

राजस्थानी रंग

रंगों की दृष्टि से राजस्थानी गीतों में रंगों का वैभव अनोखा और मुक्त है। राजस्थानी रंग तेज और चटकीले हैं, पर उनकी अनेकरूपता प्रान्त की परम्परा के अनुरूप वातावरण के संश्लिष्ट-चित्रण में सार्थक सिद्ध हुई है। राजस्थानी जीवन में वैसे गहरे रंग की वस्तुएँ ही परम्परा या गृह-सज्जा के योग्य रही हैं। बहुरंगी वस्तुएँ 'सुरंग' कहने-मात्र से अनेक रंगों की भासित होती हैं। उक्त शब्द के प्रति इसी अर्थ का विश्वास प्रचलित है। 'सुरंग लहरियाँ' से कई रंगों वाला लुगड़ा तथा 'सुरंग ऋतु' से 'ऋतु' की समस्त छटाओं का चित्र बनता है। इसी प्रकार सुरंग नार, सुरंग रसिया, सुरंग नजारा, आदि उल्लेखनीय प्रयोग हैं। 'रंगीला' शब्द भी अनेक

१. 'ललना हरे-हरे बाँस के बसुलिया अधर बिच सोहाय हे' (मैथिल लोकगीत, पृष्ठ ७२)
२. 'हरिगर बँसवा कटाएव मारव छायव रे' (वही, ६७)
३. 'हरिया बाँसा री छावड़ी रे माँय चमेली रो फूल' (रा० लो०, १६)
४. 'राँधोरी बेटी मेरी, मोती छड़ा भात, हो मूँगन की धोई दाल' (आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीतें, ६६)

भावों को व्यक्त करता है। 'रंगीला चंग वाजूर्णों' में 'रंगीला चंग' से तात्पर्य अच्छा बजने वाला चंग है। 'रंगीला सायब' वह प्रियतम है जो शौकीन, मीठे स्वभाव का, हँसमुख और बातचीत में चतुर हो। 'कस्तूरी रंग की वानर माल', पचरंगी पाग, हाथीदाँत का उजला चूड़ा, और चंदावरणी एवं चम्पकवरणी कामणी भी उल्लेखनीय रंग की ओर संकेत करते हैं। इस तरह राजस्थान का रंग-विन्यास लाल, कसूम्बी, कस्तूरी, नील, उजला (श्वेत, चमकदार), पीला, स्वर्णिम, मजीठी, साँवला, काला, चन्दनी, आदि रंगों में गुम्फित है। अन्य शेडस भी क्रम से कहीं-कहीं मिल जाते हैं।

कुरुदेशीय रंग

कुरुप्रदेश रंगों की दृष्टि से अभावग्रस्त है। कुछ वस्तुओं के लिए रूढ़ रंगों के उल्लेख परम्परा या रुचि को व्यक्त करते हैं। चंदनी (चन्दन किवाड़), मोतिया ('मोतीछड़ा भात'), हरा (हरे मूँगन धोई दाल), लीला (लीला ई घोड़ा लीला ई जोड़ा), रूपा (रूपे के बेलड़िया), सोना (सोने की बिंदली), काजली (काजल की रेख), आदि परम्परा से प्रचलित रंग हैं। लाल रंग (चटकीला) प्रायः कुरुप्रदेश के गीतों में नहीं है।

मैथिली रंग

मैथिल गीतों की नायिका ने सदैव साँवला प्रियतम पसन्द किया है, जबकि राजस्थान, मालवा, गुजरात, और मध्यवर्ती भारत के गीतों में गोरा प्रियतम प्रिय लगता है। महाराष्ट्र भी साँवले सौन्दर्य में अपना विश्वास रखता है।

जातें कुरुदाचे खुन्टा पाषाणा चा
गला माझ्या साँवलीचा आहेगोड़[1]

मैथिली गीतों में लम्बे घुँघराले बाल वाले माथे पर काली अलकें, घायल करने वाली तिरछी आँखें तथा लाल चन्दन का लेप जिसके मस्तक पर हो, ऐसे ही नायक की कामना की गई है। लाल पलंग और लाल रंग की

---

१. बाजत आवे ढोल, तीस मराठी ओव्या, पृष्ठ १२९

चूड़ी का उल्लेख भी हुआ है, पर राजस्थानी, मालवी और भोजपुरी गीतों से वह कम है। नीले और पीले रंग का प्रयोग तो नाम-मात्र के लिए हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त दोनों रंग मैथिल ललनाओं को पसन्द ही नहीं हैं।

भोजपुरी रंग

भोजपुरी गीतों की प्रवृत्ति एकदम मैथिल की भाँति है, किन्तु उनमें मैथिल की अपेक्षा कतिपय हलके रंग छिटके हैं। धानी रंग की चुनड़ी ओढ़े यौवन-सम्पन्ना अपने मायके में तरसती है। उसकी चुनरी से रंग की गमक उठती है। वह स्वर्ण की थाली में भोजन परोसती है पर उसे जीमने वाला परदेश में है। प्रतीक्षारत नारी के वियोग के चित्र काले भ्रमर, काग, कोयल या अन्य सन्देशवाहक पक्षी होते हैं। कभी-कभी वियोगिनी की आँखों में काजल नहीं होता और वैधव्य-पीड़िता के काले केशों में सिन्दूर की रेखा नहीं दीखती। प्रयुक्त संकेतों में काले रंग के साथ सिन्दूर का संयोग द्रष्टव्य है। वियोग को उभारने के लिए प्रकृति के चटकीले रंग वियोगिनी की दृष्टि में फीके और आकर्षणहीन हैं। रंगों का आभास वैसे वियोग के गीतों में कम होता है। परदेश जाते हुए अपने पति से एक स्त्री कहती है—

> **जो तुहु साम बहुत दिन बिति हैं,**
> **अपनी सुरतिया मोरे बहियाँ पर लिखाये जाव।**

(यदि तुम विदेश में अधिक दिन बिताओगे तो मेरी बाँहों पर अपना चित्र अंकित कर दो।)[1]

चित्रों के अंकन, लेखन या चित्रण के उल्लेख अपने-आप में विभिन्न रंगों के आभास से युक्त होते हैं, पर उनमें उभार नहीं होता। भोजपुरी गीतों के रचयिताओं को लाल और कुसुम्बी रंग से अधिक प्रेम है। कुसुम्बी रंग की साड़ी पहनकर प्रियतमा पीताम्बरधारी प्रियतम से मिलने के लिए आतुर रहती है। पीताम्बर सौभाग्य का सूचक है। कृष्ण की राधिका गोरी

1. भोजपुरी ग्रामगीत, पृष्ठ ३६

और स्वयं कृष्ण साँवले हैं। मैथिल की भाँति 'साँवले-गोरे' का प्रयोग भोजपुरी गीतों में नहीं हुआ है। कुसुम्बी साड़ी, लाल पट, पीत और स्वर्णिम वस्तुओं का संकेत स्वर्ण रंग की प्रियता का लक्षण ही नहीं अपितु प्रेम का भी सूचक है। राजस्थान अथवा मालवा प्रदेश से जाकर भोजपुर बसाने वाले उज्जैनी राजपूत की कृपा से यदि मालवा के रंग वहाँ प्रिय हो गए हों तो आश्चर्य नहीं।

पंजाबी रंग

पंजाबी गीतों में अन्य रंगों की अपेक्षा आसमानी रंग के प्रति प्रेम व्यक्त हुआ है। नायिका इसी द्विविधा में है कि वह आसमानी रंग का घाघरा किस खूँटी पर लटकाए—

आसमानी मेरा घग्गरा,
मैं केहड़ी किल्ली टंगां।[1]

यही आसमानी अधिक गहरा होकर राजस्थान का प्रिय रंग बन गया है। 'नीला घोड़ा रो असवार' (प्रताप) वर्षों से राजस्थान का प्रिय नायक है। कुरु प्रदेश भी उसके घोड़े की रंगत को भुला नहीं सका।

विरोधी रंग

भारतीय गीतों में कहीं-कहीं एकदम दो रंग मिलते हैं (गोरा बदन स्यामली साड़ी)।[2] मैथिल गीतों में साँवले रंग के साथ गौर (श्वेत) का प्रयोग ठीक राजस्थान के 'काला-गोरा' के सदृश है। काला वस्तुतः श्यामल रंग ही है। श्वेत रंग का गीतों में प्रायः उल्लेख नहीं मिलता। धोबियों के गीतों में अवश्य ही कपड़ों की धुलाई बगुलों के पर के समान सफ़ेद बताई जाती है—

---

१. 'हलके नीले रंग का है मेरा घाघरा, किस खूँटी पर लटकाऊँ ?'
—देवेन्द्र सत्यार्थी, बाजत आवे ढोल, पृष्ठ ७३

२. इसुरी की फागें, पृष्ठ १२

अच्छा धोबिया जबै नीक लागै,
धोवै बकुला के पाँख ।[1]

मैथिल गीतों में चटक की अपेक्षा 'हार्मनिक' अवस्था अधिक है। उनमें सुव्यवस्थित सम्मिश्रण की झलक है। भक्त-कवियों एवं विद्यापति ठाकुर के प्रभाववश कृष्ण मैथिल और ब्रज के प्रिय पात्र हैं। साँवले रंग की पसन्द का यह भी प्रमुख कारण है। साँवले रंग पर पीताम्बर ही शोभा पाता है। लाल ओष्ठ श्यामल और पीताभ रंगत में चमक उठते हैं जिनके मध्य श्वेत दंतुल पाँति अपनी निराली रंगत से सभी लोकगायकों को मोहती है।

रंगाभास

'रेसम डोर' का उल्लेख सभी भारतीय गीतों में मिलता है। यह स्पर्शजन्य रंगाभास की दृष्टि से उल्लेखनीय है। झूमर गीतों में झूमने का जहाँ भान होता है वहाँ चित्रगत अनुपम छवि और गन्ध भी रंगाभास उत्पन्न करने में योग देते हैं। 'सोलह श्रृङ्गार' का उल्लेख सहज ही गीतों में अनेक रंगों को भासित करता है। स्वर्ण या कंचन सोने की और रजत श्वेत की आभा देते हैं। वृक्ष, नदी, पेड़, पौधे, घर बाट, अटारी, अटा आदि उपकरण रंग पैदा करते हैं। राजा दशरथ सोने के खड़ाऊँ पहनकर बेल के नीचे खड़े हैं जिसके पत्ते भी कंचन के हैं। थीताभास-चित्र को उभारने में लोकगीतों का यह वर्णन उपयुक्त है।[2]

'मूमल' राजस्थान में एक प्रख्यात गीत है। मूमल अमरकोट के राणा महिन्दर की प्रेमिका थी। 'मूमल' के सौन्दर्य-वर्णन में प्रयुक्त उपादान रंगों का गहरा आभास लिये हैं। गीत की प्रथम तीन पंक्तियों में ही काले रंग और उसकी रंगतों को एक साथ प्रस्तुत कर दिया गया है—

काली रे काली काजलिये री रेखड़ी रे

---

१. बाजत आवे ढोल, पृष्ठ ६३

२. देखिए, ग्राम साहित्य, पहला भाग, पृष्ठ ६१

हांजी रे, कालोड़ी कांठल में चमकै बीजली
म्हांजी वरसाले री मूमल हालैनी नीचे आली-जे रे देस ।[१]

(काले कजरारे कज्जल की पतली-सी रेखा मूमल की सुन्दर आँखों में ऐसी शोभा दे रही है मानो भूरे-भूरे पर्वतों की सुदूर श्रेणी में बिजली चमक उठी हो ।)

रंगों का उल्लेख 'सूरजजी' नामक राजस्थानी गीत में विशेष द्रष्टव्य है। उसमें सफेद (धोला), लाल, काला, पीला, हरा आदि रंगों का एक साथ उल्लेख है। गीतकार ने बहू रैणादें (रजनी देवी, सूर्य की पत्नी) के दाँत और उगता सूरज सफेद, चूड़े की मजीठ और बहू रैणादें के नेत्र लाल, वन के काग और रैणादें के केश काले, चने की दाल और रैणादें का चीर पीला, तथा वन की दूब और रैणादें की कोख हरी बताई है। किन्तु सूरज का घोड़ा बारी-बारी से उक्त सभी रंगों का बताया है (सूर्य में सातों रंगों का समावेश है)। लोक-गीतकार की दृष्टि से समग्र रूप से उगता सूरज उजले रंग का और डूबता सिन्दूरी है—

उगतो उजास वरणो
आथम तो सिन्दूर वरणो[२]

इसी प्रकार पीपल के पत्ते से नायिका के पाँव की चिकनाहट, सुपारी से एड़ी का सादृश्य, लवंग से स्वभाव की चरपराहट, नीबू की फाँक से नेत्रों की बनावट, मखतूल (रेशम) से सुन्दरी की पीठ, वासुकी नाग से वेणी की लम्बाई, कदली-खम्भ से जंघा की तुलना तथा शरीर की सूर्य-प्रकाश से एवं मुख की चाँदनी के निखरे हुए शीतल उजास से उपमाएँ सौन्दर्य-वर्णन के साथ ही अपरोक्ष रूप से रंगों का आभास प्रस्तुत करती हैं। इतना ही नहीं, चित्र की पूर्णता को व्यक्त करने के लिए नायिका के यौवन का उफ़ान दूध से तथा शरीर के सुगठन और स्वास्थ्य को जमे हुए दही की उपमाओं से अलंकृत किया है (रा० लो०, पृष्ठ २६८)।

१. राजस्थान के लोकगीत, मूमल (११६), पृष्ठ २६५
२. राजस्थान के लोकगीत, सूरजजी (११५), पृष्ठ २६१

बुन्देलखण्ड के लोक-गायक ने भी अपने एक फाग-गीत में अनेक रंगों की छटा दिखाई है। पूरा फाग यहाँ उद्धृत करना उपयुक्त होगा—

चूनर चारू चपेटन वारी, *कुसमानी* **कउं** *री*
पैर यार हमारी। **कउं** *सुरतई* **कउं** *सरदइ* **सुन्दर**
कउं *पिस्तई प्याजी जंगाली* *सुर्खी* **कउं** *सुनारी*
अगरई **कउं** *अनारी*। **कांलो लेवे नाम इसुरी**
पीरी **कउं** *हरीरी नुकरई*। **सबरे रंगन संवारी।**[1]

विकसित अवस्था के द्योतक रंगों की दृष्टि से यह फाग उल्लेखनीय है। भारतीय गीतों में एकदम एक ही स्थान पर इतने रंग कठिनाई से मिलते हैं।

ऋतुओं से सम्बन्धित गीतों में प्रकृति के रंगों की छटा मिलती है। उत्सवों, त्यौहारों अथवा विवाह आदि अवसरों के गीतों के रंग चटकीले होते हैं। धार्मिक एवं पूजा-विधियों से सम्बन्धित गीतों के रंग सात्विक हैं। चन्दन चौक, उजले अक्षत, गजमुक्ताओं के हार, पीला चन्दन और स्वर्ण आभा वाली वस्तुओं का उनमें उल्लेख मिलता है। ऋतु-गीतों में सावन और होली के गीत भी हैं। सावन में श्यामल घटाओं का रंग स्नेह की गहराई और 'कजली' गीतों में मेघावर्णी गहनता होती है। होली के गीतों का रंग केसरिया प्रकृति का है, क्योंकि पलाश के फूलों (केसूड़ी) से केसरिया रंग उभाला जाता है। अबीरी गुलाबी भी उनमें लक्षणीय है।

शृङ्गार के गीत ललाई, गन्ध और स्पर्श लिये होते हैं। विभिन्न पुष्पों के वर्णन तथा चन्द्र, सूर्य, जल, आकाश, वृक्ष, पक्षी के कलरव और वायु की सरसराहट आदि में युक्त व्यापारों का संकेत अनेक प्रकार से रंगों को उभारते हैं। मैथिल के 'वटगमनी' के गीत अधिकांश में ऐसे ही हैं।

विस्तारपूर्वक वस्तुओं का उल्लेख करने की प्रवृत्ति का मध्यकालीन परम्परा से सम्बन्ध है। जायसी ने 'पद्मावत' में भोजन आदि के वर्णन द्वारा ऐसी अनेक प्रकार की तालिकाएँ प्रस्तुत की हैं। अवधी में 'तुलसीदास गँवार' की छाप वाले एक प्रसिद्ध गीत में अनेक प्रकार के व्यंजन और

१. इसुरी की फागें, पृष्ठ १०

भारतवर्ष की प्रसिद्ध नदियों के नाम गिना दिये हैं।[१] खोज करने पर ऐसे कई गीत मिलते हैं। आभूषणों का ब्यौरेवार वर्णन भी भारतीय गीतों की एक प्रवृत्ति है। इन प्रवृत्तियों में रंगों के प्रति रूढ़िगत परम्परा का निर्वाह गीतों में लक्षणीय है। 'पचरंगी चुनरी', 'पचरंगी पाग', सोने की थाली, रूपे की टिकली, मोतियों का चौक, पियरी (पीला वस्त्र) का शकुन, दखणीरो चीर, 'लीलो' घोड़ो, रेसम डोर, काली कोयल, लाल पंखो, हर्या मूँग की दाल, दाड़म दाँत आदि प्रयोग सादृश्य रंगतों को व्यक्त करते हैं। सभी भारतीय गीतों में ऐसी कई रूढ़ रंगतों के द्योतक उपकरण प्राप्त हैं।

रंगों की यह आभा शब्द-चित्रों से भी व्यक्त होती है। उनमें कल्पना-जन्य बुद्धि अथवा परम्परा के विश्वास ही रंगतों को पकड़ लेते हैं। जिन रंगों में गति का आभास होता है वैसे रंग भारतीय गीतों में कठिनाई से मिलते हैं। पूर्वग्रहों से युक्त रंग-विषयक आकर्षण लोकगीतों में निहित हैं। इसलिए जहाँ हम प्रागैतिहासिक चित्रों की चर्चा करते हैं वहाँ भारतीय गीतों में व्यक्त होने वाली 'हेराल्डिक' अवस्था विचारणीय है।

हमें यह स्वीकार करना होगा कि लोक-साहित्य में जिन सैकड़ों रंगतों का उल्लेख प्राप्त है, वे सभी लोकगीतों में नहीं मिलते। 'लोकगीतों' के रंग सीमित, निश्चित और स्थूल रूप में छिटके हुए हैं जिनका समग्र रूप से प्रभाव पड़ता है और जो कृषि-सभ्यता के विकास से सन्नद्ध चित्रों को प्रतिबिम्बित करने में योग देते हैं।

---

१. कविता-कौमुदी, पृष्ठ १६६

६

लोकगीतों में नई चेतना

आंबा, लीबू, बाणिया
गल दाव्या रस दे।

(—मालवी)

लोकगीत विशाल जन-समूह की अनुभूतियों के निचोड़ हैं, जिनमें सभी प्रकार की अनुभूतियाँ भावनाओं की तीव्रता को लेकर फूट पड़ती हैं। गाँवों में रहने वाला खेतिहर मानव मजबूरियों, अभावों और ब्याजखोरों का शिकार होकर धीरे-धीरे इस निष्कर्ष पर पहुँच गया कि 'आम, नीबू और बनिया बिना गला दबाए रस नहीं देते।' यह एक नये जीवन की खोज का अप्रत्यक्ष रूप में पहला चरण है। वह यह भी ठीक तरह से समझने लगा है कि दुनिया दो वर्गों में बँट गई है और निज के शोषण से उसने सीखा है कि शोषक शक्तियों का विनाश उसके संगठन और दृढ़ता में निहित है। भविष्य के प्रति उसे विश्वास है।

ई दन जावे रे, म्हारा मनभाया,
ई दन जावे रे—

लोकगीतों द्वारा किसी देश की संस्कृति और उसके वास्तविक जन-जीवन का परिचय प्राप्त होता है। रीति-रिवाजों और धार्मिक अवसर-विशेष के गीतों से जहाँ एक सामाजिक पक्ष का एकांगी स्वरूप व्यक्त होता है,

वहाँ दूसरा पक्ष देखने और समझने के लिए उन गीतों की खोज आवश्यक है जो आर्थिक कठिनाइयों और दारिद्रय की भूमि पर पनपते हैं।

गोर्की ने गीतों को सामूहिक प्रेरणा का प्रबलतम स्रोत कहा है। उसने जनता की सृजनात्मक शक्ति का उल्लेख करते हुए लोकगीत-आन्दोलन के सिलसिले में कहा था कि "जनता सृष्टि का प्रथम दार्शनिक और आदि कवि है।" शायद राल्फ वान विलियम्स ने इसी भाव को दूसरे शब्दों में रखने का प्रयत्न किया है, जिसमें लोकगीत को उस मूल पेड़ की तरह बताया है जिसकी जड़ें भूतकाल में स्थित हैं और जिसमें नित्य नई-नई शाखाएँ और कोंपलें फूटती हैं। यही पेड़ जनता के कवि-रूप का परिचायक है।

लोकगीतों की परम्परा इन्सान के आदिम-युग से चली आ रही है। युगों की छाप उसके भावों पर पड़ी और वह अपने जीवन को ईमानदारी से अपनी बोलियों में प्रकाशित करता हुआ आज भी विपरीत परिस्थितियों में संघर्ष करता चला आ रहा है। उसने समय-समय पर शोषण के विरुद्ध गीतों में आवाज उठाई, अपने श्रम का परिहार गीतों के सहारे किया, नया उत्साह और लगन गीतों द्वारा प्राप्त किये और इतना ही नहीं, मन की छिपी हुई मीठी बातों के सुख और दुख को इन्हीं गीतों में ढाला। यों सभी प्रकार के संघर्षों का सामना करते हुए मनुष्य क्रमशः अपने शब्दों की शक्ति पर विश्वास करने लगा, जो उसके लिए अधिक उत्पादन और विरोधी शक्तियों से लोहा लेने के हेतु बलप्रद सिद्ध हुआ। गोर्की ने इसीलिए लोकगीतों की गंगा को 'दी ओरल क्रियेटिवनेस ऑफ दी पीपुल' कहा है।

युग की बदलती हुई परिस्थितियों में आज गीतों के भीतर एक नई रोशनी के चिह्न प्रकट होने लगे हैं। उनमें 'सोने की थाली में भोजन परोसा' की सम्भावित कल्पना, वीरों को देवतुल्य मानने का विश्वास, अन्धश्रद्धा, भ्रम, आदि अब जीवन के कठोर सत्य से टकराकर ढहने लगे हैं। थाली तो दूर रही, रोटी और जीवन में शान्ति के प्रश्न प्रबल हो उठे हैं।

इस दृष्टि से जब हम सन् सत्तावन के विद्रोही स्वर, छप्पन के अकाल

के उद्गार, अंग्रेजों के प्रति विरोध को व्यक्त कर देश के स्वाधीनता-संग्राम के महत्त्व को उद्घाटित करने वाले भाव, क्रान्तिकारी वीरों की मौत पर आँसुओं से भीगे जोशीले गीत अथवा भूख और दारिद्र्य से पीड़ित हृदय की पुकार का अध्ययन करते हैं तो एक नया ही हिन्दुस्तान दीख पड़ता है। और इसी परम्परा को आगे ले जाने वाले गीतों में एक नया स्वर तथा आने वाले भविष्य के प्रति नये विश्वास के दर्शन होते हैं।

औद्योगिक क्रान्ति ने समाज में बड़ा परिवर्तन उपस्थित किया। सुखी किसान मजदूर बनने लगे। समृद्धि एक ओर झुक गई। शोषण का चक्र गति पकड़ने लगा और गरीबी ने लोगों का गला दबाना प्रारम्भ कर दिया। 'जब से रेल चली, जंगल और पहाड़ कट गए। जो पैसा था, उसे मैंने पैरों को सौंप दिया और पेट रीढ़ से चिपक गया'—ऐसे भाव सही रूपों में व्यक्त होने लगे। पर जब युद्ध की ज्वालाएँ संसार पर छाने लगीं तो ऐसा लगा मानो लोगों पर संकट की लपटें बरसने वाली हैं। अभाव गहरे होते गए। मँहगाई के कारण बेचारा अहीर गायक बिरहा, कजली और कबीरा गाना भूल गया। अब तो उसे गोरी के उन्नत स्तन देखकर भी हृदय में पीड़ा नहीं उठती—

मंहगी के मारे बिरहा बिसरिगा, भूलि गई कजरी कबीर।
देखिके गोरीक उभरा जोबनवा, अब उठै न करेजवा में पीर।

इस मँहगाई का कष्ट देश के प्रायः निम्न और मध्यवर्गीय परिवारों को हुआ; विशेषतः निम्न-मध्यवर्गीय कुटुम्बों की स्थिति बिगड़ गई। उन्हें छोटी-छोटी बातों के लिए तरसना पड़ा। मालवा की स्त्रियों ने गाया—

जी हरो रंग पीलो रंग मोंगो कर दिया
कुंकु कर दियो फीको
जी लाल रंग को तो भाव चढ़ाई दियो
लुगड़ा काय से रंगा रे
जी दाल चावल सब मोंगा करि दियो
शक्कर कर दी मुसकल

घी को तो भाव चढ़ाइ दियो
चोखा काय से जीमा रे ?

(इस युद्ध ने हरा और पीला रंग मँहगा कर दिया है तथा कुंकुम फीका कर दिया है। अर्थात् युद्ध की भयंकरता से माँग का कुंकुम फीका पड़ गया है—हमारा सुहाग काँप रहा है। लाल रंग का भाव चढ़ा दिया है। हम लुगड़े काहे से रंगें ? दाल-चावल सब मँहगे कर दिए, और शक्कर तो मिलना दुश्वार है। घी का भी भाव चढ़ा दिया है, हम चावल काहे से खावें ?)

मँहगाई की अभिव्यक्ति में ब्रह्मा तक को लपेट लिया गया है, जिससे तंगी का आधिक्य अच्छी तरह से प्रकट हो सके। बाराबंकी का एक गीत है जिसमें एक हरिन बहेलिये के फन्दे में फँस जाता है। उस समय वह हरिनी से कहता है—"ब्रह्मा के घर में खर्च की तंगी आ गई, सो अब वह मेरा माँस बेचकर खाएगा।"

विधना के घर खरच खोटाने
बेंचि खात मोर मांस

'भूखे भजन न होई गुपाला' की उक्ति प्रायः सभी ने सुनी है। बिना पेट में कुछ डाले कोई काम नहीं होता। इसी प्रकार भूखा कवि कहीं और से कविता उत्पन्न नहीं कर सकता। उसे अन्न चाहिए, तभी वह रचना प्रस्तुत कर सकता है। इस सचाई को निम्न पंक्तियों में बड़ी सादगी से व्यक्त किया गया है—

ना बिरहन की खेती पाती, ना बिरहन को बंज।
जाही पेट से बिरहा उपजै, गाऊं दिन औ रात।

(बिरहों की न खेती होती है, न बिरहों का व्यापार। बिरहे इसी पेट से पैदा होते हैं जिन्हें मैं रात-दिन गाता फिरता हूँ।)

एक अहीर लोकगीत में राम और लक्ष्मण भिखारी बना दिये गए हैं। अपनी सीमाओं और संस्कारों के अनुकूल पात्रों को स्वरूप प्रदान कर देना लोक-गीतकार की अपनी स्वाभाविक वृत्ति है। वह राम-लक्ष्मण को गले में

तुम्बी लटकाये दूर देश में भीख माँगते हुए दिखाता है। यह उसकी अपनी परिस्थितियों का तकाज़ा है जिसकी वजह से वह अपने प्रसिद्ध वीरों और आदर्श महापुरुषों को अपने उच्च आसनों से उतारकर अपने रूप में मिलाना चाहता है। वह उन्हें अपने से भिन्न और परायेपन के भावों से युक्त नहीं देखना चाहता। उनकी मुसीबतों को अपनी मुसीबतों से मिलाकर वह सहानुभूति करने का प्रयास करता है।

गृहस्थ जीवन की कठिनाइयों के कुछ कठोर चित्र मेवाड़ी और राजस्थानी गीतों में अच्छे उतरे हैं। एक राजस्थानी गीत में गीतकार ने बैलों का उदाहरण देकर बताया है कि वे दिन-रात मेहनत करते हैं और उसका फल दूसरा भोगता है। इसी प्रकार किसान बेचारा दिन-भर परिश्रम करता है, पर वह स्वयं अपने परिश्रम का फल नहीं भोग पाता। उसे अपने कुटुम्ब का पालन करना भी मुश्किल हो जाता है।

दिन राती भागतड़ा काटाँ
सुख सूं कदेय न सोवां, मेरो स्याम
घर चारो, घर चारो भोत दुहेलो
मेरो स्याम, घर चारो जी।

(दिन-रात भाग-दौड़ में कटते हैं। सुख से कभी सोना नहीं होता, घर चलना बड़ा कठिन है। मेरे स्वामी घर-बारी बड़ी दुहेली है।)

शोषण का स्वरूप धीरे-धीरे गीतों में स्पष्ट होने लगा है। इस शोषण के परिणामस्वरूप कभी-कभी भूखों मरने की नौबत आ जाती है। पत्नी अपने पति से कहती है······"हे स्वामी, घर में अनाज समाप्त हो गया है; बच्चे भूखों मर रहे हैं।·· ···ये सूर्य उगते ही कलेवा माँगते हैं। मैं कहाँ से लाऊँ? घर में पैसे की उपज नहीं। आगे का काम किस तरह चले?"

किसान जब मजदूर बनने जाता है तो उसके पूर्व घर की यही स्थिति उसे अपने परम्परागत धन्धे से विमुख करने में योग देती है। इन पंक्तियों में पत्नी सलाह देती है—

कुवे पर कुवाड़ा जावो
लाओ दोय आना कुमाय
ढोला, घर सापड़ ग्यो नाज
टावरिया भूखा मरे ।

(कुवे पर काम करने जाओ, दो आने कमाकर लाओ। प्रियतम, घर में अनाज समाप्त हो गया। बच्चे भूखों मर रहे हैं।)

पिछले कितने ही वर्षों का ऐसा ही इतिहास भारतीय किसान का है। औद्योगिक प्रगति की आड़ में पूँजीवाद ने उसकी जमी हुई शक्ति पर भारी प्रहार किये हैं।

कर्ज किसान की दूसरी समस्या है, जो ऊपरी समस्याओं से मुख्यतः सम्बन्धित है। वह कर्ज लेता है, पर उसे चुका नहीं पाता। शायद वह अच्छी तरह जानता है कि मूल रकम से कई गुना अधिक दे चुकने पर भी उसका कर्ज कम नहीं होता। ग्रामों में फैले हुए सूदखोर जोंकों के शोषण से वह अभ्यस्त हो चुका है। अपनी गाय, बैल, बछड़ों आदि को बेच देने पर भी वह इससे छूट नहीं पाता। इसी अनुभव को कड़वे घूँट की तरह उतारकर कोई किसान कवि कहता है—

थे करजो सिर मत करियो, ओ मन भरिया।
थे करजो भांत बुरो छे, ओ मन भरिया॥

भारतीय निम्न-वर्ग के गीतों में परेशानियों से पीड़ित मानवता के मूल में विद्रोहात्मक चिनगारियाँ सुलगने लगी हैं। अहीरों, कहारों, धोबियों, चमारों और भिखारियों के गीतों में गरीबी की अभिव्यक्ति अधिक तीव्र होकर आ रही है। अहीरों के नाच तो गीतों से ही मुखरित होते हैं। उनका गाना वास्तव में श्रम को घटाने का बहाना-मात्र है। उसमें बिरहे अधिक गाये जाते हैं। ऐसे बिरहों में कठोर श्रम में व्यस्त मानव की लालसाएँ अपने में ही कसमसाती हुई कण्ठों पर आ जाती हैं। निश्चय ही उनमें जीवन की मजबूरियाँ होती हैं।

छत्तीसगढ़ी गीतों में 'बाँस गीत' में, जो कि रावत जाति का अपना गीत

होता है, भूख का प्रश्न हल करने के लिए पत्नी अपनी बकरी, भेड़ और बगार की भैंस बेचने के लिए प्रस्तुत होती है। उसका पति कहता है—"मैं बकरी न बेचूँगा, भेड़ नहीं बेचूँगा, न ही भैंस बेचूँगा। दूध-दही बेचकर जी लूँगा और तुझे बेच डालूँगा।"

छेरी न बेचौं भेड़ी न बेचौं
न बेचौं भैंसी बगार
मोले मही में हम जी जावो
औ, बेचौं तोहूला धलाया

यह ऐसी परिस्थिति का चित्र है जो भारतीय निम्नवर्गीय घरों में कहीं-कहीं उपस्थित होती रहती है। निश्चय ही लोकगीतों के पुराने भोलेपन को जीवन के सत्यों ने बड़ी ठेस पहुँचाई है, पर यह सत्य नये जीवन का कवित्व अपने अन्तर में छिपाये हुए हैं। कठोर धरती को फोड़कर नया अंकुर जिस प्रकार एक पेड़ की शक्ल में बड़ा ही फल देता है, ठीक उसी तरह इन्हीं सचाइयों पर नये जीवन के प्रभात में लोकगीतों में नया सौन्दर्य आएगा। तब नया संगीत और उसकी नई रुझान होगी। इस नयेपन के लिए कितने ही कण्ठों में फाँसी के फन्दे पड़ेंगे। तब लोक-कवि दुलीचन्द से आवाज़ मिलाकर कहना होगा—

क्यों डरो डार गले फाँसी
जलेगी लास हम यहीं भसमेंगे,
फिर धरती में कुरा चलेंगे
हाड़ रक्त सब ही फल देंगे।

१०

पवाड़ा : महाराष्ट्र का प्रसिद्ध लोक-काव्य

: १ :

'पवाड़ा' अथवा 'पोवाड़ा' महाराष्ट्र का प्रसिद्ध लोक-काव्य है, जो अपनी शैली और विषय-वस्तु की दृष्टि से राजस्थानी चारणों की विरुदावली शैली के समस्त तत्त्वों से अभिनिहित होकर भी विशुद्ध वीरगीत के रूप में सामान्यतः मान्य है। पवाड़ा डफ और तुनतुने के सहयोग से जन-समाज के बीच ऊँची आवाज में गाया जाता है। महाराष्ट्र शब्द-कोष में पवाड़ा (पोवाड़ा) वीरों के पराक्रम, विद्वानों की बुद्धि अथवा सामर्थ्य, गुण, कौशल के काव्यात्मक वर्णन, प्रशस्ति, स्तुति-स्तोत्र अथवा केवल पराक्रम या कीर्ति के अर्थ में लिया गया है।[1] यह शब्द लगभग एक हजार वर्ष पूर्व भी मराठी भाषा में प्रयुक्त होता रहा है। सन्त ज्ञानेश्वर ने अपनी रचना 'ज्ञानेश्वरी' में इसका अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है।[2] वैसे 'पवाड़ा' शब्द

---

१. महाराष्ट्र शब्दकोष (पाँचवाँ भाग), १९२६

२. 'हे मरिले ते वर थोडे। आणी कही साधीन गाढे। मग नादेन पवाड़े।' —ज्ञा० १६-३९२

'जयाचिये प्रतीतीचा वाखारां। पवाडु होय चराचरा। हे मंहात्मां धनुर्धरा। दुलभुआथी'—ज्ञा० ७-१३७

'पवाड़ा तुल्या केला गंधर्वा सी' अ० २। 'कीं हा ईश्वराया पवाड़ा' आदि

'प्रवाद' का बिगड़ा रूप प्रतीत होता है। प्रवाद का शाब्दिक अर्थ है जोर से कहना, जनरव, किसी को दी जाने वाली सूचना, अपवाद आदि। यह उत्पत्ति मराठी के प्रसिद्ध कवि (शाहीर) खाडिलकर तो कम-से-कम स्वीकार करते हैं, चाहे और स्वीकार भले ही न करें। महाराष्ट्रीय ज्ञान-कोष के लेखक का मत है कि " 'पवाड़ा' का अर्थ है कीर्ति। यह प्राकृत शब्द है। पुरानी मराठी के पद्य-साहित्य में यह प्रयुक्त होता रहा है। अतः रूढ़-अर्थी यह शब्द ऐतिहासिक व्यक्ति के किसी चरित्र-प्रसंग-वर्णन के लिए शाहीर काव्य-साहित्य (मराठी) में प्रयुक्त होता है। पवाड़ा उत्तान स्वरूपी होता है। उसमें गूढ़ भावों का अभाव होता है।...यह साहित्य सर्वसाधारण जनता के लिए बोधगम्य, सरल, नित्य बोली जाने वाली लोक-भाषा में रचा जाता है। उसमें उपमा, उत्प्रेक्षा आदि लोक प्रचलित होते हैं।....इन पवाड़ों में मराठों तथा महाराष्ट्र की विशेषताएँ प्रतिबिम्बित हुई हैं।"[1]

'पवाड़ा' अपनी विशेषताओं के कारण ही ब्रज में 'पमारा', मालवा में 'पवाड़ो', मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश में 'पंवारा' होकर लोकगीतों में प्रचलित हुआ है। डॉ० सत्येन्द्र ने पमारे के विषय में कहा है कि वे "सभी अवदान के रूप में हैं। प्रयोग की दृष्टि से 'पवारा' ब्रज के मुहावरे में झंझट, झगड़े, युद्ध का पर्याय हो गया है।" बुन्देलखण्ड में यही पंवारा एक लम्बी कहानी, जो शीघ्र ही समाप्त न होती हो, के अर्थ में प्रचलित है। 'पवाड़े' शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सत्येन्द्रजी का कथन है—"यह बात किसी सीमा तक उचित प्रतीत होती है कि इन गीतों में पहले पंवार—परमार—क्षत्रियों की गाथाएँ गाई जाती होंगी। वे लम्बी होती होंगी और लड़ाई-झगड़े से परिपूर्ण होती होंगी। फलतः परमारों के गीत होने के कारण 'पंमारे' कहलाए।"[2] इससे सोचने के लिए एक नया आधार अवश्य मिल जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि परमार क्षत्रिय ही महाराष्ट्र में पंवार हो गए, जिनके यश-पराक्रम की प्रशस्तियाँ 'पवाड़े' कहलाती रही हों।

१. महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष, विभाग १७वाँ, पृष्ठ २१७

२. ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन, तीसर अध्याय, पृष्ठ ३४८

समाज-शास्त्र की दृष्टि से यह प्रकरण महाराष्ट्र में 'गोधल' प्रथा से सम्बन्धित माना जाता है। कुल-देवता की पूजा करते समय 'गोधल घाल-रयाचीं' प्रथा महाराष्ट्र में पूर्व-प्रचलित है। क्योंकि सन्त नामदेव की रचना में गोंधल नाम के एक अभंग का प्रयोग सिद्ध करता है कि यह प्रथा नामदेव के पूर्व प्रचलित थी। गोंधल प्रथा के चलन से गोंधली नामक एक अलग ही जाति बन गई। आज भी गोंधली गोंधल के समय पाँच देवों के नाम लेकर बाद में पूर्व पुरुषों के चरित्र ऊँची आवाज़ में गाते हैं। अतः इससे पवाड़े की उत्पत्ति धर्ममूलक प्रतीत होती है।

महाराष्ट्र में वामन मोरपन्त के समय काव्य-साहित्य में शाहिरी सम्प्रदाय का उदय हुआ। यह 'शाहिरी' अरबी के 'शायरी' का मराठी रूपान्तर है। मराठी के ये शायर (कवि) पण्डित या शास्त्रज्ञ न थे। हिन्दी के फक्कड़ सिद्धों की भाँति वे भी बहुसंख्या में निम्नवर्गीय जातियों से आये थे। उन्हें जीवन के अनुभव और लोक-भाषा का सहारा था। इन्हीं कवियों द्वारा पवाड़ों का विकास हुआ। प्रारम्भ में पवाड़े धर्ममूलक रहे, पर जब मराठों के हाथ में सत्ता आने लगी और उनका पराक्रम बढ़ने लगा, तब वीरों को उत्साहित करने के लिए वीर-चरित्रों का बखान सुनने और सुनाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार पराक्रम और यशोवृद्धि के सहारे लोक-कवियों के पवाड़ों को महत्त्व प्राप्त होता गया। देवताओं के चरित्र-वर्णन अब नर-वीरों के पराक्रम-वर्णन में क्रमशः परिणत हो गए। धर्ममूलक दृष्टिकोण किंचित् राजनीतिक भी हो गया।

प्राचीन पवाड़े उपलब्ध नहीं हैं। अवश्य ही शिवाजी के समय के दो-तीन पवाड़े मिल जाते हैं। का० न० केलकर ने 'ऐतिहासिक पोवाड़े' की भूमिका में उन पर प्रकाश डाला है। सन् १६५६ के लगभग रचित अग्नि-दास के एक पवाड़े से ज्ञात होता है कि उस काल के पहले पवाड़े लोकप्रिय काव्य के विषय बन गए थे। उसने जो 'कड़ाका' गाया था ('अग्निदास कविश्वरा त्याने कड़ाका गायिला') वह वस्तुतः पवाड़ा ही है। उसकी रचना और पूर्णता इस बात को सिद्ध करती है कि किसी चली आती हुई परम्परा

को १७वीं शताब्दी के पहले ही परिस्थितियों के कारण लोकरंजन के हेतु अपना लिया गया था।

स्व० शंकर तुकाराम शालिग्राम और बम्बई म्युनिसिपैलिटी के भू० पू० कमिश्नर ने संयुक्त रूप से प्रयत्न करके ऐसे कई पवाड़ों की खोज की है। उन्हें एक बार सरसरी दृष्टि से देख जाने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि १७वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पवाड़ों की रचना तेज़ी से होने लगी थी। यह गति सन् १८५० तक बनी रही। तत्पश्चात् राजाओं के पराक्रम का ह्रास, विषयों का अभाव, नवीन राज्य-व्यवस्था तथा पाश्चात्य प्रभाव के कारण पवाड़ा हल्के दरजे की वस्तु समझा जाने लगा, ठीक उसी प्रकार जैसे हिन्दी के रूढ़ छन्दवादी अपनी ही बोली के गीतों अथवा चारणों की रचनाओं को हल्का समझते हैं। पवाड़ों के समानान्तर लावनी-सम्प्रदाय का भी ज़ोर बना रहा। लावनी का विषय शृङ्गार रस रहा। अतः मराठी के इतिहास में वीर रस और शृङ्गार रस की काव्य-धारा एक साथ बहती रही। आल्हा, जगदेव का पमारा, जयमल के पवारे आदि में पाया जाने वाला लड़ाई का सजीव वर्णन महाराष्ट्रीय पवाड़ों से अछूता नहीं है। "पराक्रम करने वाले वीर तथा पराक्रम गाने वाले कवि काल, स्थान और भावना की दृष्टि से इतने निकट थे कि उनके पराक्रम का जीवित चित्र उपस्थित हो जाता है।"[1] 'ऐतिहासिक पोवाड़े' से उद्धृत एक युद्ध-वर्णन यहाँ प्रस्तुत करके हम विषय समाप्त करते हैं—

> काय पलटणाच्या फैरा झडती। पर्जन्या परी गोल्या पड़ती।
> शिरकमलें कन्दुकवत् उडती। छिन्न-भिन्न किति होऊन रडती।
> कितीक पाण्याविन तडफडती। कितीक प्रेतां-मधीय दडती।
> वीर वीराशी निसंग भिडती। सती सारखे विडे उचलती।
> पाउल पाउल पुढ़ें सरकती। घाव चुकाउन शूर धडकती।
> सपूत वाघापरी गुरकती। मोंगल बच्चे मागे सरकती।
> जिवबादादा मनी चरकती। अररर रर शाबास बाबानो। (चाल)

१. वि० सी० सरवटे, मराठी साहित्य समालोचना, पृष्ठ २२ : १९३७

सुटती तोफा दुन्द दणादण। गुंगत गोले येती छणा-छण।
सों-सों करिति बाण सणासण। खालले घोडे उड़ती टणाटण।
टापा हाणती दुरून ठणाठण। बाजती पट्टे खांडे खणाखण।
नौबती झाँझा। झडति झणाझण।
एकच गर्दी झाली धुराली। घोर माण्डली रण धुमाली।....

(क्या पल्टनों के फायर झड़ते हैं। वर्षा की भाँति गोलियाँ बरसती हैं। कमल-रूपी सिर कन्दुकों की तरह उड़ते हैं। छिन्न-भिन्न होकर कितने ही रोते हैं। कितने ही पानी के बिना तड़प रहे हैं। कितने ही मृत शवों में छिप जाते हैं। वीर वीरों से बिना शंका के भिड़ जाते हैं। वे सतियों की तरह बीड़े उठाते हैं। पाँव-पाँव आगे बढ़ते हैं। घावों को बचाकर वीर आक्रमण करते हैं। सपूत रणबाघ की तरह गरजते हैं। मुगल बच्चे पीछे हटते हैं। जिवबादादा मन-ही-मन शंकित हैं। अरर रर शाबाश वीरो! (चाल) दनादन तोपें छूट रही हैं। गड़गड़ाते गोले क्षण-क्षण में आते हैं। सूँ सूँ करके बाण सनसना रहे हैं। गिरे हुए घोड़े भी टनाटन उठते हैं। टापों की दूर से ही आवाज करते हैं। पट्टे और खड्ग खनाखन बजती हैं। नौबत और झाँझ झनाझन बजते हैं। धुएँ की एक ही-सी गर्दी हो गई है। युद्ध घमासान हो रहा है।)

११

लोक-साहित्य में 'बारह-मासी' गीत

'बारह-मासी' गीतों में प्रायः विप्रलम्भ-शृङ्गार ही अधिक गाया जाता है। यही कारण है कि उनमें बुद्धि-तत्त्व की अपेक्षा रागात्मक व्यञ्जना अपनी सम्पूर्ण कलाओं सहित प्रकट होती है। 'मैथिली लोकगीत' के संग्राहक ने 'बारह-मासा' को 'अनुभूत्यात्मक अभिव्यञ्जना' कहा है। बारह-मासा के "नैसर्गिक सौन्दर्य के सामने कीट्स के हल्के पैर, गहरे नील रंग की बनफ़शा-सी आँखें, काढ़े हुए बाल, मुलायम पतले हाथ, श्वेत कण्ठ और मलाईदार वक्ष-प्रदेश वाली नायिका भी फीकी पड़ जाती है।"[१] अपने स्वच्छ ग्रामीण सौन्दर्य में उठे हुए बारह-मासी गीत किसी भी कृत्रिम सौन्दर्य की अपेक्षा प्रभावशाली सिद्ध होने में पीछे नहीं रहते। संस्कृत और प्राकृत के कवियों ने 'लोकाभिव्यक्तियों' के सारल्य से निःसन्देह साहित्य को अलंकृत किया है। विद्यापति और जायसी ने परम्परा या लोकगीतियों से प्रभावित होकर ही अपने विरह-वर्णन में संजीवनी का संचार किया। उनमें अंकित भावों की तीव्रता एवं हृदयहारिता बिना लोक-भावों के माध्यम के सम्भव ही न थी।

लोक-प्रचलित 'बारह-मासे' अथवा 'बारह-मासी' गीत आषाढ़ से आरम्भ होते हैं, यद्यपि इसके लिए कोई शास्त्रीय नियम नहीं है।

१. रामइकबालसिंह 'राकेश', मैथिली लोकगीत, पृ० २६०

परम्परागत मान्यता-मात्र ही ध्यान देने योग्य है। वैसे एक-दो मास इधर-उधर से आरम्भित बारह-मासे भी लोक-साहित्य के भण्डार में उपलब्ध हैं। डॉ० रघुवंश ने बारह-मासे प्रस्तुत करने की तीन प्रमुख रीतियों का उल्लेख किया है—'एक में वर्णन चैत्र से आरम्भ होता है, दूसरी में आषाढ़ से और तीसरी में अवसर के अनुसार।'[१]

प्रचलित परम्परानुसार बारह-मासों का प्रयोग उद्दीपन विभाव की दृष्टि से ही होता आया है। सेनापति के बारह-मासों (जो वसन्त से आरम्भ होते हैं) में यही बात पाई जाती है, पर कहीं-कहीं कवि द्वारा प्रसूत स्वतन्त्र-चित्रण ऋतुओं के बिम्ब-ग्रहण में बहुत सहायक होते हैं। बारह-मासों की यह साहित्यिक परम्परा संस्कृत-काव्य के मार्ग से होती हुई, समय-समय पर प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यों को प्रेरित करती हुई, प्रबन्ध-काव्य के क्षेत्र में आज भी प्रिय विषय बनी है। 'साकेत' का बारह-मासा इस दृष्टि से हिन्दी-क्षेत्र का एक उदाहरण है।

इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी का आदि-साहित्य लोक-भाषा की निधि से प्रभावित था। अतः बारह-मासी गीतों की परम्परा का लोक-साहित्य से प्रभावित होना असम्भव नहीं प्रतीत होता। अपभ्रंश की अनेक रचनाओं में जो शृङ्गार लोक-साहित्य से प्रभावी घोषित किया गया है, वही आगे चलकर संस्कृत के मुक्तकों को प्रभावित करने में सफल हुआ। अतः इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक बारह-मासी परम्परा लोक-साहित्य की भूमि पर आधारित होकर विकसित हुई है।

बारह-मासी गीतों में प्रत्येक मास का वर्णन क्रम से किया जाता है। हर मास की रूपरेखा संक्षेप में दी जाती है, किन्तु इस बात का अवश्य ध्यान रखा जाता है कि जिन उपकरणों से ऋतु-वर्णन की योजना की जाती है वे प्रचलित और सर्वानुभूत हों। विरहिणी उन्हीं को लेकर अपने प्रवासी प्रियतम को स्मरण करती है। इसी प्रकार ऋतुओं पर मानवी भावों का

१. प्रकृति और हिन्दी काव्य, पृ० ४०२

पूर्ण आरोप होता है।

नीचे दो मालवी बारह-मासियाँ दी जा रही हैं। प्रथम बारह-मासी गर्बा-गीतों में गाई जाती है। खेतों को निराते समय और चक्की पीसते हुए भी बारह-मासों (सियों) को गाया जाता है। वर्षा और वसन्त उद्दीपन की दृष्टि से प्रसिद्ध ऋतुएँ हैं। इन्हें लेकर ही मनचली विरहिणियाँ अपने वियोग गा उठती हैं।

गर्बा की बारह-मासी

(1) सखि, लागो असाड़े मास, प्रभु वन चाल्या रे
चाल्या, चाल्या रे दुवारकानाथ, हरि मन्दर सूनो रे
म्हारा प्रभुजी ने राख्या बिलमाय[1] कामणी करिया रे[2]
सखि, एक सो दासी ने साथें, दूजी कुबजा रे
सखि, लागो सावण मास, बिजेला चमके रे
झीणीं-झीणीं पड़ रही बुन्द सालूड़ा भीजे रे
सखि, लागो भादव मास, घटा घनघोर छई रे
छई रे, छई रे दुधारी रात, हरि मन्दर सूनो रे
सखि, लागो कुँवारे मास, दसेरो आयो रे
म्हारा प्रभुजी बिना यों कुण दसेरो मनावे रे
सखि, लागो कार्तिक मास, दिवाली आई रे
सखि, घरे-घरे गोरेधन पुजाय[3], हरि मन्दर सूनो रे
सखि, लागो अगण मास, सियालो[4] आयो रे

१. बहलाकर
२. वशीकरण करके
३. दीपावली के दूसरे दिन स्त्रियाँ गोवर्धन-पूजा करती हैं। यह वही पूजा है जिसका कृष्ण के गोवर्धन पर्वत धारण करने से सम्बन्ध है
४. जाड़ा

म्हारा प्रभुजी विना यो कुण सोड़[1] पधारे रे
सखि, लागो पोसज मास, अँगिया फाटी रे
म्हारा किसनजी विना यो कुण अँगिया सिवाड़े[2] रे
सखि, लागो म्हावज मास वसन रितु आई रे
म्हारा प्रभुजी बिना यो कुण वसन रमावे[3] रे
सखि, लागो फागण मास होली आई रे
सखि, घर-घर फागे खेलाय, हरि मन्दर सूनो रे
सखि, लागो चेतज मास गणेगोर[4] आई रे
सखि, घर घर गणगोर पुजाये, हरि मन्दर सूनो रे
सखि, लागो वेसाख मास, उणालो[5] आयो रे
घर-घर पंखा डोलाय, प्रभु मन्दर सूनो रे
सखि, लागो जेठज मास, प्रभु घर आया रे
आयो आयो से जवानी रो जोस कलेना[6] टूटे रे[7]

प्रस्तुत बारह-मासी में प्रत्येक मास की संक्षिप्त रूपरेखा के साथ त्यौहारों का क्रम भी मिला दिया है, जिनमें ऋतुओं का साधारण बिम्ब प्रत्यक्ष हो जाता है।

कृष्ण और राधा लोक-कवियों के प्रिय नायक और नायिका हैं। इन्हीं

---

१. बिस्तर
२. सिलाना
३. रमण करे
४. गणगौर-पूजा राजस्थान और मालवा की स्त्रियों का प्रमुख त्यौहार है जिसे 'तीज' के नाम से अथवा गौरी पूजा के नाम से भी पुकारा जाता है
५. गरमी की ऋतु
६. बन्द
७. सौ० हीरादेवी से प्राप्त

के माध्यम से वे अपने जीवन की साधारण-असाधारण प्रेम सम्बन्धी अनुभूतियों को व्यक्त करते हैं। आलम्बन कृष्ण हैं और उनके विरह में तप्त राधा के अतिरिक्त अनके गोपियाँ भी हैं। सूर ने अपने 'भ्रमर-गीत' में कृष्ण के लिए गोपियों को ही रुलाया है। उद्धव का प्रसंग भी एक लोकगीत में आया है। उसमें गोपियाँ उद्धव का नाम लेकर प्रत्येक मास में अपना दुखड़ा रोती हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सच ही कहा है कि सूरदास में किसी चली आती हुई परम्परा का विकास मालूम होता है। यह विश्वास, संकलित लोकगीतों में वर्णित प्रसंग और परम्परात्मक चित्रण से और भी अधिक पुष्ट होता है।

विरह सम्बन्धी बारह-मासी गीत दो प्रकार के होते हैं—(१) जिनमें आदि से अन्त तक वियोग ही हो, तथा (२) जिनमें अन्तिम मास में नायक आता है और विरहिणी को उसके संयोग का अवसर प्राप्त होता है।

ऊपर दी गई बारह-मासी दूसरे प्रकार की है।

नीचे दूसरे प्रकार की बारह-मासी उद्धृत की जा रही है जो अपनी यात्रा के दौरान में साँवरे निवासी (म० भा०) पीराजी कानग्वाल ब्राह्मण से सुनकर लेखक द्वारा लिपिबद्ध की गई है। कानग्वाल वैष्णव-मार्गी होते हैं जो कन-टोपी पहनने के कारण कानग्वाल कहलाते हैं। इनका निर्वाह ग्रामों में भिक्षावृत्ति और हरिभजन पर होता है। दूसरा बारह-मासी गीत इस प्रकार खुलता है—

(२) गिरधर बंसी बाजु लाल तोरी आवाज सुनकर मैं दवड़ी[१]
रमझम-रमझम नेहला[२] वरसे कृष्ण घांट पे लागि झड़ी
पेला[३] मेना असाड़ लगिया जंगल हो गई हरियाली
धोरी[४] धूरन याद करत रही झुर रही अपना मेला में

१. दौड़ी
२. मेघ
३. पहला
४. धवरी गाय

दुजार[1] मेना सवरण लगिया मेरो मन हो रह्यो बेरागी
कोइ ढूँडे बामण-बनिया, में ढूँडूँ रमता जोगी
भादो मेना लगो लालजी धमक पड़े मेरो मन हरखे
हे धमक पड़े बादल गरजे
दूध कटोरा पियो मन मोहन में सुखिया दुख क्यों सरजूँ[2]
क्वाँर मेना लगो लालजी आन मिलो नन्द का बासी
प्रभु आन मिलो ब्रज का वासी
सभी ग्वाल हिलमिल चलो माखण-मिसरी जीमण को
कातिक मेना भाग मनमोहन गोड़ धोड़े नन्द लाला
फाड़ पीताम्बर-ओड़ गेंदा होड़न आवे हल लाला
अग्गन मेना लगो लालजी भींकत पाती नन्द बाँचू
साँवरी सूरत पे मुकट बिराजे, गलसोवे मोतियन माला
माह मेना लगे लालजी मनियन में करो उतबेरी
सुनो सखी री मोरे मन की जेसी पड़ी जेसी सेई
फागन रास रच्यो मन मोहन लाल गुलाल भरूँ झोरी
भर-भर मुठिया डाल कृष्ण पे लपट-झपट खेलों होली
चेत चितम्बर मेरे मन की लागी भाल प्रभु नहीं सूझे
सुनो सखी री मोरे मन की मन का दर्द न कुण पोछे
बेसाख मेनो लगो लालजी पीपल पूजन में जासी
दरसन दो म्हाराज कृष्णजी लख चौरासी टल जासी
जेठ मेनो लगो लालजी ऊपर छाँया गवलण की
ऊपर छाँया मोरन की
मात जसोदा करे आरती आन मिले ब्रज का बासी
'सूरदास' प्रभु तहारे मिलन की हरिचरणों की बलिहारी
प्रभु चरणों की मैं दासी

---

१. दूसरा

२. सृजन करूँ

श्री किसन की बारह-मासी सवा पेर हिरदे लागी

उपर्युक्त बारह-मासी केवल विरहिणी तक ही सीमित नहीं; इसमें धोहरी और ग्वालबालों के साथ यशोदा भी है। कृष्ण सभी के समान आलम्बन हैं। इसमें विरह और मिलन की भावनाएँ एकमेक होकर मिल गई हैं। भक्ति-भावना का अंश भी 'दरसन दो महाराज कृष्ण जी लख चौरासी टल जासी' में व्यक्त हुआ है। अन्त में सूरदास की छाप है। इससे यह न समझना चाहिए कि उक्त बारह-मासी सूर-रचित है। लोकगीतकार अपनी उत्कट श्रद्धावश पूर्ववर्ती भक्तों के नाम अपनी रचनाओं के अन्त में प्रायः ले आते हैं। 'कहे कबीर' के नाम से पाई जाने वाली रचनाएँ भी इसी प्रवृत्ति की द्योतक हैं। ऐसे ही मैथिली लोकगीतों में कई गीत विद्यापति की छाप वाले हैं। एक गीत के विषय में पं० रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है। हमारा अनुमान है विद्यापति की छाप-वाला वह गीत[1] किसी जन-कवि की ही रचना होगी। अन्त में विद्यापति का नाम उसकी श्रद्धाभक्ति के कारण ही सहज रूप से अवतरित हुआ है।

बारह-मासी हमारे लोक-साहित्य की महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति है। सदियों से लोक-जीवन में इन रचनाओं ने रस-संचार किया है।

बारह महीनों की ऋतु-सम्बन्धी प्रमुख परम्परा या सांकेतिक उपकरण एवं चित्र-सूत्र नीचे दिये जा रहे हैं, जो प्रायः बारह-मासी गीतों में मुख्यतः पाए जाते हैं—

१ असाढ़ (आषाढ़) : 'घन गरजे घोर' (मा०)
'सखि चलल जलधार हे' (मै०)
'गरजि गरजि के सुनाई' (भो०)

२ सावन (श्रावण) : 'झमकि झरी लागे हिंडोले, झीणी झीणी बूँदें' (मा०)
'रिमझिम बरस बूँदें हे, हमरो बलम परदेश' (मै०)

१. 'आय बालम पूजी है आस, पूरा विद्यापति बारह मास'—कविता कौमुदी, ४वां भाग, पृष्ठ ४०२

'सावन रिमझिम बुँनवा बरिसे
पियवा भींजेला परदेस' (भो०)

३ भादव (भाद्रपद) : 'बड़ी बड़ी बुँदिया बरसत नीर',
'धमक पड़े बादल
गरजे, 'छई रे दुधारी रात' (मा०)
'भादव सेजिया भयावन रात
बिजली घटा देखि काँपत गात' (मै०)
'भादो रइनी भयावन सखि हो
चारू ओर बरसेला धार' (भो०)
'धर्म करे सगरौ संसार, बनबोल्यो मोर'

४ कुँवार (आश्विन) : 'आसिन शरद जनावत जोर
उगए चाँदनी दुख बरजोर' (मै०)
'कुँवार ए सखि कुँवर विदेसे गइले
दे गइले तीन निसान,
सीर सेनुर, नयन काजर, जोबन जीव के काल' (भो०)

५ कार्तिक (कार्तिक) : 'दीवावले (दीपावली), गोरधन पुजाय' (मा०)
'कार्तिक निज पूर्णिमा
चलु सखि, गंगा स्नान' (मै०)
'कातिक ए सखि कातिकी लगतु हे
सब सखि गंगा नहाय' (भो०)

६ अगहन (मार्गशीर्ष) : 'चहुँदिसी उपजा धान',
'सियालो आयो' (मा०)

७ पोस (पौष) : 'बयार चलेज स खड्ग की धार' (अ०)
'पियबिन जाड़ा न जाय हमार' (ब्र०),
'जाड़ा छेदे तन सुई सन छन-छन' (मै०)
'पूस हे सखि, ओस परतु हे
भींजेला अँगिया हमार हे' (भो०)

८ माह (माघ) : 'हे सखि ऋतु बसन्त आयेले' (मै०)
'माघ हे सखि पाला पड़तु हे
बिन पिया जाड़ो ना जाइ हे' (भो०)
९ फागुन (फाल्गुन) : 'फगुनी बयार, तरुवर पात सबै
झरि जाय' (अ०)
'सब रंग बनायल खेलन पियउ संग हे
फागुन हे सखि होरि आयल' (मै०)
'फागुन सखि फाग खेलतु हे
घर घर उड़ेला अबीर हे' (भो०)
१० चेत (चैत्र) 'चेत फुले हे बन टेसुल' (अ०), (तीज)
'चैतहि बेला फुलिय गेल
फूलि गेल सब रंग फूल' (मै०)
११ बेसाख (वैशाख) : 'पवन चलत जस बरसत आग' (अ०)
'विरह कुहकत मोर गात हे
कैसे काटे हम उखम धाम' (मै०)
'वइसाख ए सखि उखम लागे
तन से ढरेला नीर' (भो०)
१२ जेठ (ज्येष्ठ) : 'धधकै धरती ओ' असमान' (अ०)
'जेठ मास सखि, लूक लागे
सर सर चलेल समीर' (भो०)
'बिन नाथ चन्दन शीतलादिक
धधकि जारत देह यारे' (मै०)[1]

---

१. अ०—अवधी, मै०—मैथिली, भो०—भोजपुरी और मा०—मालवी के लिए प्रयुक्त संकेत हैं

१२

सती-प्रथा एवं तत्सम्बन्धी लोकगीत

भारतीय इतिहास के समस्त कालों में सती-प्रथा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से निरन्तर बनी रही।

'सती-प्रथा' शब्द से यहाँ तात्पर्य स्त्री के उस मृत्यु-उत्सव से है जिसमें वह अपने पति के शव के साथ अग्नि का आरोहण करती है अथवा उसकी मृत्यु होने पर वियोग में किसी भी प्रकार अपने प्राणों को प्रसन्नता-पूर्वक त्याग देती है।

यद्यपि ऋग्वैदिक युग में सती-प्रथा के प्रमाण नहीं पाए जाते, किन्तु उसके पश्चात् इस प्रथा का चलन अवश्य बढ़ने लगा। पति की मृत्यु के बाद 'देवृकामा' की संज्ञा प्राप्त करने वाली नारी धीरे-धीरे अपने अधिकार खोने लगी। काल-प्रसूत आर्थिक अवस्था की दयनीयता ने भारतीय नारी को नर की छाया-मात्र बना दिया। देश की सामाजिक एवं राजनीतिक दारुण अवस्थाजन्य परिस्थितियों ने बाह्य शक्तियों से नारी की सुरक्षा के हेतु उसके प्रति संचित नर के समस्त विश्वासों को ढहा दिया। भारत में आने वाली अनेक जातियाँ अपनी कन्याओं का वध किया करती थीं। पूर्व-प्रच-लित सती-प्रथा इनके सम्पर्क से यहाँ अब तेज़ी से पनपने लगी। मध्य-कालीन युग में उसने जौहर का रूप लिया। भारतीय नारी ने उसे एक उत्सव के रूप में अपनाया। पति की मृत्यु के पश्चात् पत्नी के अपहरण,

अपमान और पतिता होने की सम्भावना का इस प्रकार निराकरण हो गया। विदेशियों के आगमन से लगाकर अंग्रेजों के उत्थान-काल तक यह प्रथा नारी के सतत बलिदान की एक लम्बी कहानी बन गई। मृत्यु को हँसते-हँसते अपनाने की यह परम्परा अपने-आप में एक रहस्यमय इतिहास हो गई, जिसमें सहस्रों वर्षों की जय-पराजय एवं नारी के असंख्य अग्नि-चुम्बन निहित हैं।

विलियम बेंटिंक द्वारा सन् १८२६ ई० में सती-प्रथा अवैधानिक घोषित किये जाने तथा उसको रोकने के हेतु कठोर नियन्त्रणों के बाद भी गुप्त रूप से यह प्रथा इस देश में बनी रही; यहाँ तक कि बीसवीं शताब्दी के मध्य तक सती होने की घटनाएँ होती रहीं। अपने वंश को गौरवशाली बनाने अथवा विशेष परिस्थितियों के दबाव में आकर अनेक प्रान्तों में, मुख्य रूप से बंगाल में, कई परिवारों ने अपनी विधवाओं को बलपूर्वक अग्नि में जीवित झोंका है।

सती भारतीय नारी के लिए श्रद्धा और रहस्य का विषय है। भारतीय ग्रामीण समाज में प्रचलित अनेक लोकगीतों में इस रहस्य की हृदयस्पर्शी व्यंजना बड़ी गहराई से व्यक्त हुई है। कई गीतों में अग्नि-आरोहण करने वाली विधवा के ससुराल पक्ष के परिजन अत्यन्त प्रसन्न तथा पितृ-पक्ष में माँ-बाप, भाई-बहन आदि रोते-बिलखते व्यक्त किये गए हैं।

गीतों में निहित सती का वर्णन स्त्रैण प्रकृति के अनुरूप ही मिलता है। ससुराल-पक्ष में सास, ससुर, देवर, जेठ, देवरानी, जेठानी, पति और पुत्र-पुत्रियाँ तथा पितृ-पक्ष में माता-पिता और भाई-बहन विशेष रूप में उल्लेखनीय परिजन हैं।

सती चिता का आरोहण करने के पूर्व सोलह शृङ्गार करती है। माथे पर 'भम्मर', टीका, बाहुओं में बाजूबन्द, कलाइयों में गजरे, चूड़ा, पैरों में झबिया, नेवर, गले में हँसली तथा तन पर सालू पहनकर वह तैयार होती है। आभूषणों एवं अन्य शृङ्गार की वस्तुओं के नाम बोलियों के अनुसार यद्यपि बदल जाते हैं तथापि अन्तर्निहित भावों में कोई परिवर्तन

लक्षित नहीं होता। मालवी का एक सती-गीत लीजिए जिसमें 'सायब' (प्रियतम) से दूरी पड़ने की करुणा राग पीलू के स्वरों में समान रूप से मालवा-भर में गाई जाती है।

(४) सायब को डोलो०....

माथा ने भम्मर घड़ावो रे सेवग[1] म्हारा
सायब को डोलो चन्दण नीचे ऊबो
चन्दण नीचे ऊबो, चमेली नीचे ऊबो
सायब से छेटी[2] मती पाड़ो रे सेवग म्हारा
सायब को डोलो चन्दण नीचे ऊबो
वइय्यन[3] ये चुड़लो चिरावो[4] रे सेवग म्हारा
सायब को डोलो०....
झबिया रतन जड़ावो रे सेवग म्हारा
सायब को डोलो०....
पगल्या नेवर घड़ावो रे सेवग म्हारा
सायब को डोलो०....
अड़ूगे ने सालूड़ो रंगावो रे सेवग म्हारा
सायब को डोलो चन्दण नीचे ऊबो....

(हे मेरे परिजन, मेरे माथे के लिए भम्मर घड़ाओ; प्रियतम का डोला चन्दन के वृक्ष के नीचे खड़ा है। वह चन्दन के वृक्ष के नीचे खड़ा है, चमेली के वृक्ष के नीचे खड़ा है। प्रियतम से वियोग न होने दो, मेरे परिजन, प्रियतम का डोला चन्दन के वृक्ष के नीचे खड़ा है। मेरी कलाइयों के लिए सुहागनो, चूड़ा तैयार करो, झबिया में रत्न जड़ाओ, पगल्या एवं नेवर घड़ाओ तथा सालू रँगकर तैयार करो, मेरे परिजन प्रियतम का डोला

१. परिजन
२. वियोग
३. सुहागनें
४ जूड़ा तैयार करो

चन्दन के वृक्ष के नीचे खड़ा है ।)

किसी-किसी गीत में आभूषण घड़ाने की यह प्रार्थना ससुर से की जाती है। कुछ ऐसे भी गीत उपलब्ध हैं जिनमें सती अपने समस्त वैभव को छोड़कर जाती है। उसका पारिवारिकों से वियोग तो होता ही है, किन्तु खेत-खलिहान, घर-बार आदि सभी सामग्री इस पार्थिव संसार में जहाँ-की-तहाँ रह जाती है। उदाहरणार्थ नीचे का गीत देखिए—

(५) सतियारा डेरा हवाबाग में कणिपत सेंवा[1] हिंगलाज[2]
बावड़ लोने बीड़ो पान को····
कणिपत मेल्या सासू-सूसरा, ये म्हारी सतियार
कणिपत मेल्या मायन-बाप, हो मोटा का जाया[3]
बावड़ लोने बीड़ो पान को····
हाँसत मेल्या सासू-सूसरा, रोयत[4] मेल्या मायन-बाप
मोटा का जाया, बावड़ लोने बीड़ो पान को····
कणियारी धँसी अम्मरपाल,[5] ये म्हारी सतियार
बावड़ लोने बीड़ो पान को····
सजनारी धँसी अम्मरपाल, मोटा का जाया
बावड़ लोने बीड़ो पान को····
कणिपत मेल्या ऊँडा ओवरा[6] कणिपत मेली सूरजपोल
मोटा का जाया हो बावड़ लोने बीड़ो पान को····
कणिपत मेल्या देवर जेठ, कणिपत मेल्या नाना बालूड़ा[7]

१. सेवन करना
२. अग्नि
३. बड़े की पुत्री
४. रोते हुए
५. अमर-पाल
६. गाँव के घरों के कमरे
७. छोटे बालक

मोटा का जाया, बावड़ लोने बीड़ो पान को....
अरे घोड़े चड़ी ने बाग मरोड़ी, म्हारी सतियार
कणिपत सेवी हिंगलाज मोटा का जाया,
बावड़ लोने बीड़ो पान को....

(सती अग्नि-आरोहण करने के लिए प्रस्तुत है। उसने सास-ससुर को हँसता हुआ और माँ-बाप को रोता हुआ छोड़ दिया है। उसके साजन की 'अम्मरपाल' (अमर-पाल अर्थात् प्रियतमा) धँस गई। उसने गहरे-चौड़े ओवरे छोड़ दिए, सूरजपोल छोड़ दी, तथा देवर-जेठ को भी छोड़कर बड़े की जायी ने अग्नि-स्नान करने के लिए घोड़े पर चढ़कर बाग मरोड़ दी।)

'कणिपत मेल्या सासू-सूसरा...' पंक्ति जहाँ-कहीं भी सती के गीतों में प्रयुक्त हुई है वहाँ स्वाभाविक रूप से स्त्रैण प्रकृति 'ओवरा-ओवरी', माँ-बाप आदि सम्बन्धियों एवं बँधे-बँधाए पदार्थों का उल्लेख करने से नहीं चूकती। अभिव्यंजना की यह परम्परात्मक शब्दावली विशेषतः राजस्थानी गीतों से आई है। उक्त गीत में 'सूरजपोल' का उल्लेख तो स्पष्टतः प्रकट करता है कि यह गीत उदयपुर से यात्रा करता हुआ मालवा की भूमि में कण्ठारोहित हुआ है। लेखक को मेवाड़ से एक ऐसा गीत मिला है जिसमें नोजा, हेमा और चोखा नामक स्त्रियों के सती होने के वर्णन हैं। 'कणिपत मेल्या....' पंक्ति का प्रयोग उस गीत में भी हुआ है। अतः निश्चय ही सती के गीतों पर राजस्थानी प्रभाव अधिक है।

ग्राम सुन्दरसी (जिला शाजापुर, मध्यभारत) ठिकाने के स्व० ठाकुर की पत्नी रानी गोपालकुँवर चालीस-पचास वर्ष पूर्व सुन्दरसी ही में सती हुई थी। इस घटना का उल्लेख समाधि-स्वरूप स्थापित की गई प्रस्तर-शिला के अतिरिक्त गाँव की पुरानी स्त्रियों में प्रचलित एक गीत में भी अधिक हृदयस्पर्शी ढंग से प्रस्तुत हुआ है। गीत है—

म्हारी सती माता काँ से दल-बादल उलट्या[1]

---

१. उलटे

म्हारी सती माता काँय तो दियो हे मेलाण[1]
ओ राजा की राणी उगता सूरज पे माजी सत करया
म्हारी सती माता मलारना[2] से दल बादल उलव्या
म्हारी सती माता सिन्दरसी में दियो हे मेलाण
राजा की राणी आपका सायब[3] पे माजी सत करया, आदि

आगे की पंक्तियाँ 'कणिपत मेल्या·······' पंक्ति से आरम्भ होकर झूरते हुए सास-ससुर, रोते हुए माँ-बाप, सिंचित होते हुए आम्र और इमली के वृक्ष, लिपाते-छबाते ओवरा-ओवरी, पटसाल तथा पलने में सोते हुए बालक को छोड़ने के उल्लेख प्रस्तुत करती हैं।

लिपिबद्ध किये गए उक्त सती के गीत बहुत पुराने हैं। जिन वृद्धाओं से ये गीत प्राप्त किये गए हैं, वे पचास-साठ वर्षों से इन्हें निरन्तर गाती आ रही हैं। एक-दो वृद्धाओं ने अपनी आँखों से सती को चिता पर चढ़ते भी देखा है। समय का सूत्र बढ़ जाने पर अन्धविश्वासी एवं श्रद्धालु मस्तिष्कों द्वारा सती के लिए सत-सम्बन्धी अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित की जाती हैं। ऐसी किंवदन्तियाँ घटना के पुरानेपन की वृद्धि के साथ और भी अधिक बढ़ती हैं, जिससे तथ्य की खोज करना आगे चलकर एक समस्या बन जाती है।

---

१. मुकाम
२. रानी के पीहर का स्थान
३. स्वामी, प्रियतम

१३

भारतीय लोकगीतों की नारी

लोकगीतों का सृजन जितना अधिक नारी ने किया है, पुरुष ने नहीं। जीवन के अनेकानेक अवसरों पर स्त्रियों के कोमल कण्ठों ने अपने अभावों और भावनाओं की अभिव्यक्ति गीतों को गाकर ही की है। नारी के जीवन की वेदना, हास्य, उमंग, शृङ्गार, अभिसरण, चांचल्य, राग-द्वेष, कुढ़न, घृणा आदि सभी गीतों की पंक्तियों में एक-एक कर प्रकट हुए हैं। जितना अधिक नारी का गीतों से सम्पर्क आया उतना ही अधिक उसके जीवन का यथार्थ चित्र गीतों ने प्रस्तुत किया है। भारतीय लोकगीतों ने तो जैसे नारी के जीवन का चित्र प्रस्तुत करके सब-कुछ कह डाला है। नारी ने रीति-रिवाजों, उत्सवों, प्रथाओं और त्यौहारों के निमित्त जो गाया है, उसमें अनजाने ही उसके मानस के विभिन्न भावों को गति मिल गई है। जैसे कविता कवि के मानस को प्रतिबिम्बित करती है वैसे ही लोकगीत समाज के घात-प्रतिघातों का सच्चा रूप व्यक्त करते हैं।

भारतीय नारी के दो चित्र समान मात्रा में लोकगीतों ने प्रस्तुत किए हैं। नारी एक ओर अत्यन्त ही भावना-प्रधान, साध्वी, चतुर गृहिणी, माता-तुल्य सास, आज्ञाकारिणी पत्नी, गृहलक्ष्मी और योग्य प्रियतमा है तो दूसरी ओर कर्कशा, निन्दक, अत्याचारी सास, फूहड़ पत्नी, जलने वाली ननद तथा अयोग्य पत्नी है। विमाताओं के भी दो चित्र गीतों में मिलते

हैं, किन्तु अधिकांश में विमाताएँ ही दुष्टा और अत्याचारी चित्रित की गई हैं। सौत के चित्र भी डाहपूर्ण और प्रायः एकांगी हैं। सुखी परिवारों के गीतों में सास यशोदा अथवा कौशल्या जैसी सुलक्षणा एवं शान्त स्वभाव की, ननद लक्ष्मी-सी, तथा देवरानियाँ, जेठानियाँ गनगौर के झुण्ड-सी बताई गई हैं।[1]

वधुओं का जीवन कहीं-कहीं सुखमय है, किन्तु प्रायः अनेक परिवारों में वधुएँ कष्टमय जीवन व्यतीत करती हैं। ससुराल में जहाँ जीवन नये सिरे से प्रारम्भ होता है, उत्साह और उमंगों की अपेक्षा उन्हें बिसुर-बिसुरकर जीना पड़ता है। वधुओं ने अनेक गीतों में अपनी माताओं से बड़े ही दुख-भरे शब्दों में ससुराल की शिकायत की है। वे अपने ससुराल के दुखी जीवन की अपेक्षा पीहर में रहना अधिक पसन्द करती हैं। ससुराल में वे कोल्हू के बैल-सी दिन-भर काम करती हैं और बात-बात पर सास-ननद के ताने सुनती हैं; जेठानियाँ हुक्म चलाया करती हैं और वे चाकरानी की तरह उनकी आज्ञाओं का पालन करती हैं।

सास का लड़ना-झगड़ना तो नित्य का कर्म है। लोकगीतों ने सास का जितना कठोर, कर्कश और रूखा चित्र उपस्थित किया है उतना अन्य का नहीं। राजस्थान में तो कहावत ही हो गई है—'फोग आलोई बलै सासू सीधी ई लड़ै' अर्थात् फोग गीला हो तो भी जलता है और सास सीधी हो तो भी लड़ती है।[2] सास अपनी बहू के साथ कितना बुरा बरताव करती है यह निम्न पंक्तियों में देखिए। एक बहन अपने भाई से कह रही है—

---

१. राजस्थान के ग्रामगीत—सूर्यकरण पारिख द्वारा सम्पादित
गीत ८ : 'कवसल्या सी सास मोरी,' पृष्ठ १६
गीत ६ : 'सासड़ जसोदा मिली,' ,, १७
,, : 'लिछमी सी नणदूली,' ,, १८
,, : 'देयोर-जेठाण्याँ म्हारी
गण गोरयाँ रो झूमको,' पृष्ठ १८

२. राजस्थान के ग्रामगीत, पृष्ठ २६

(८५) सबका खिआवों भैया सबका पिआवौं रे ना।
भैया बचि जाथै पिछली टिकरिया रे ना॥
भैया ओहू माँहे ननदी कल्योना रे ना।
भैया ओहू माँहि गोरू चरवहवा रे ना॥
भैया ओहू माँहि कुकुरा बिलरिया रे ना।
भैया ओहू माँहि देवरा कल्योना रे ना॥
सबका ओढ़ावौं भैया सबका पहिरावौं रे ना।
भैया बचि जाथे फटही लुगरिया रे ना॥
भैया ओहू माँहि ननदी ओढ़निया रे ना।
भैया ओहू माँहे देवरा कछोटिया रे ना॥
सासू खाँची भरि बसना मँजावैं रे ना।
सासू पनिया पताल से भरावै रे ना॥[1]

सास ने अनेक घरों में वधुओं का जीवन अभिशाप बना रखा है। नीचे जातियों के गीतों में सास के अत्याचार तो खुल कर गाये गए हैं। स्त्रियें चक्की चलाते हुए अथवा खेत में अन्य काम करते हुए अपने दुखं जीवन की व्यथाएँ गाया करती हैं। वधुओं ने सास ननद, जेठानियों अथव देवरानियों का जो अध्ययन अपनी बुद्धि और अनुभव से किया है, वह पक्षपातपूर्ण होने पर भी यथार्थ की सीमा से परे नहीं हो पाया है। एव वधू ने अपने परिवार की तीन स्त्रियों के सम्बन्ध में गाया है—

सास

सासू तो ए भइया बुढ़िया डोकरिया रे ना।
भइया मूँहवा में जहर कै गँठिया रे ना॥

(हे भाई, सास जी बुढ़िया डोकरी हैं, लेकिन उनके मुँह में

---

१. जौनपुर जिले के एक गीत की पंक्तियाँ—'हमारा ग्राम-साहित्य' पृष्ठ ११६

की गाँठ है।)[1]

जेठानी

जेठानी तो ए भइया कारी बदरिया रे ना।
भइया छिन बरसै छिन घाम रे ना॥

(हे भाई, जेठानी तो काली घटा है। क्षण-भर में बरसती है, क्षण-भर में घाम हो जाती है।)[2]

देवरानी

देवरानी भइया कोने कै बिलरिया रेना।
भइया छिन निकरै छिन पैठे रे ना॥

(हे भाई, देवरानी कोने की बिल्ली है; कभी बाहर निकलती है, कभी भीतर जा बैठती है।)[3]

ऐसा प्रतीत होता है मानो बहू घरों में मूक पशु की भाँति सब कष्ट सहन किये चली जा रही है। कभी सामने बोलती नहीं। कभी कोई अपने गाँव का नाते-रिश्ते का व्यक्ति आ जाता है तो वह वर्षों से दबा हुआ अपना दुखड़ा सुना देती है। यह दुखड़ा वह अपनों तक ही रखने के लिए आग्रह करती है। भावज का जहाँ प्रश्न आता है, वहाँ वह अपना दुख प्रकट होने देना अपना अपमान समझती है। वह भाई को अपना दुख सुनाकर उसे अपनी गाँठ में बाँध लेने की सलाह देती है। इसी प्रकार भावज भी ननद से उसी प्रकार दूर रहना चाहती है। जहाँ एक ओर ननद बन की कोयल है, वहाँ दूसरी ओर वह भावज के द्वेष का शिकार भी है। 'सोहर' के गीतों में ननद-भौजाई के ताने हैं और पुत्र-जन्म की आड़ में वह अनेक प्रकार के पिछले राग-द्वेषों को तृप्त करना चाहती है। मालवा के एक

१. 'हमारा ग्राम-साहित्य', पृष्ठ १२०
२. 'हमारा ग्राम-साहित्य', पृष्ठ १२०
३. 'हमारा ग्राम-साहित्य', पृष्ठ १२०

'धुधुरी' गीत में भावज नायन को ननद के घर धुधुरी न देने की आज्ञा देती है, किन्तु नायन भूल से धुधुरी दे चुकी थी। भावज अपने पति से धुधुरी वापस लाने की प्रार्थना करती है और बेचारा पति मजबूर होकर बहन के घर आधी रात को धुधुरी लेने जाता है। 'मामेरा' अथवा 'बधावा' के गीतों में भावज गहने बेचकर अपना सम्मान रखना चाहती है—

अस जिन जानो ननदी कि भौजी दुखित अहैं।
बेचल्यों मैं नाके के बेसरिया पिअरिया लैके अउतेऊँ॥

(हे ननद, ऐसा न समझना कि भावज कष्ट में है। मैं अपने नाक की बेसर बेचकर भी पीली साड़ी लेकर आती हूँ।)[1]

हिन्दू परिवारों में बेटी की विदा के गीतों द्वारा हृदय-द्रावक दृश्य उपस्थित हुए हैं। बालकपन से घर में रमी हुई बेटी क्षण-भर में दूसरे की होकर विदा होने लगती है। लड़की का जन्म मानो एक दुख का कारण हो जाता है। यौवन के आते ही वह अपने ही पिता के घर पराई-सी हो जाती है। फिर नये घर में नई-नई बातें। माँ ने मानो पाल-पोसकर इसीलिए बड़ा किया कि दूसरे के हवाले कर दिया जाय।

मैं हूँ अम्मा तेरी गाय की बछिया
जित मोड़ै मुड़ ज्याय।[2]

गाय की बछिया की यह उपमा तो कहीं-कहीं नारी के सम्पूर्ण जीवन की उपमा बन जाती है। कन्या घर की पाली-पोसी कोयल अथवा चिड़िया होती है, जो बड़ी होने पर उड़ जाती है। वह है 'कुलंग पक्षी की तरह, जिसके भाग्य में भी जन्मभूमि में रहना नहीं बदा।'[3] ब्याह होने पर वर के घर भी स्त्रियाँ बहू को ताने देने और उस पर व्यंग्य करने से नहीं चूकतीं। वे हँसी-हँसी में गा देती हैं—

१. 'हमारा ग्राम-साहित्य', पृष्ठ २६
२. 'राजस्थानी ग्रामगीत', पृष्ठ ४
३. 'देसां दी मैं कूँजड़ी परदेसां मेरा बास वे, परदेसां मेरा बास'
—पंजाबी गीत

एटी उप्पर एटी, बौहटी ऐडी क्यूँ रक्खी पेकी

(पिता ने वधू का विवाह इतनी बड़ी करके क्यों किया ?) अथवा 'बनरी का जन्म किसी अँधेरी रात में हुआ था ?' (अर्थात् वह रूपवती नहीं है ।)[१] साथ ही अन्य गीतों में बहुओं ने सास का मज़ाक उड़ाने में कसर नहीं रखी । पंजाबी वधुओं ने अपनी अक्खड़तापूर्वक कहा है—

कोठी हेड पसेरा, निक्कल सस्सड़िए घर मेरा
खाय ल्या बथेरा, हुण रैहंदा सूँदा मेरा

(कोठी के नीचे पाँच सेर का बाट है । हे सास, तू बाहर निकल, अब यह घर मेरा है । तू बहुतेरा खा चुकी, अब बचा-खुचा मेरा है ।)

भारतीय नारी के जितने भी चित्र लोकगीतों में पाये जाते हैं, वे निस्सन्देह आधुनिक कविता अथवा गद्य द्वारा प्रस्तुत चित्रों की अपेक्षा कहीं अधिक सफल हैं । शरत् ने मध्यवर्गीय बंगाली परिवारों की नारियों के चित्रण में सफलता पाई है, किन्तु उनकी लेखनी भी भोले लोकगीतकारों की गेय पंक्तियों के सीधे-सादे चित्रों के सामने हार मान गई ।

भारतीय नारी सदा ही कार्य-व्यस्त रहती है । लोकगीत उसकी व्यस्तता को उघाड़ने में चुप नहीं हैं । ससुराल जाती हुई बेटी को विदा करते हुए माँ अनेक आशीर्वादों के साथ यह भी कहती है—

चूले री आग परींठे रो पाणी कदे न तूँ सेपड़ाई ए
पड़ोसनण री सीख न लीजै सासू रो हुकुम बजाइजे

(वहाँ चूल्हे की आग और पानी—घर का पानी—कभी समाप्त न होने देना । पड़ोसिनों की सीख न लेना, सास का हुक्म बजाना ।)[२]

श्रृंगार-पक्ष के गीतों में नारी के भावों की जैसी हृदय-स्पर्शी अभिव्यंजना व्यक्त हुई है, वैसी कम देखने में आती है । नारी का विरह स्थान-स्थान पर हृदय में टीस पैदा करता है । प्रियतम उसका राजा है और वह रानी, पर वियोग की अवस्था में दोनों दुखी हैं । कहीं कोई नायिका दुखी है, पर

१. पंजाबी गीत, पं० सन्तराम
२. 'राजस्थानी ग्रामगीत', पृष्ठ १५

उसका पति वृद्ध अथवा बालक है। बूढ़ा किसी के जी का जंजाल है, जो किसी के माथे की टिकुली देख जल उठता है।[1] और किसी का बालम छोटा है, जिसे उँगली पकड़कर पत्नी बाजार ले जाती है और बेचारी जिसके युवा होने के दिन गिन रही है।[2] एक ओर यह दशा है तो दूसरी ओर वियोग में अपने आपको मिटा देने की साध है। देखिए बुलन्द शहर के चमारों के एक गीत की निम्न पंक्तियों में कितना सुन्दर भाव है—

जो मैं ऐसा जानूँ मेरे हरि तज जायँगे
बनती नैनन का सुरमा हर डोरे में लग रहती [3]

एक नेपाली वियोगिन अपने मन की बात मन-ही-मन में न रख पाती है—

स्वर्ग ने भरि नौलाख तारा
म गन्न सगदी न
पेट को कुरा मुखै माँ आउछ
म भन्न सगदी न

(आकाश पर नौ लाख तारे भरे हैं, मैं उन्हें गिन नहीं सकती। पेट की बात मुख पर आती है, मैं उसे कह नहीं सकती।)[4]

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि लोकगीत की नारी अपनी रूपराशि और भावनाओं में स्वस्थ एवं परिपूर्ण है। दुख और सुख दोनों की सीमा पर खड़ी हुई वह अपना जीवन कर्म करते हुए बिता रही है। उसका अपना स्वाभिमान जितना बढ़ा-चढ़ा है, उतना ही उसका त्याग है। उसके बालिका, युवती, प्रौढ़ा और वृद्धा के विभिन्न रूप अपनी-अपनी सीमाओं में पूर्ण हैं। अन्त में पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में लोकगीतों की 'एक-एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धाएँ, खण्डिताएँ,

१. 'बुढ़वा मोरे जियक जरनिया, टिकुली देख जरि जाय
२. हमारा ग्राम साहित्य, पृष्ठ १६१
३. हमारा ग्राम साहित्य, पृष्ठ १६२
४. 'धरती गाती है', देवेन्द्र सत्यार्थी, पृष्ठ १२१

और धीराएँ निछावर की जा सकती हैं, क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं, और वे अलंकारों से लदी हुई भी निष्प्राण हैं। ये अपने जीवन में किसी शास्त्र-विशेष की मुखापेक्षी नहीं हैं। ये अपने आप में परिपूर्ण हैं।"[1]

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका

१४

नर्मदा-उपत्यका के लोकगीत

उत्तर में विन्ध्या और दक्षिण में सतपुड़ा के मध्य नर्मदा के दोनों ओर दूर-दूर तक फैला हुआ प्रदेश निमाड़ कहलाता है।[१] किन्तु मालवा के पठार से नीचे उतरते ही नर्मदा की उपत्यका में निमाड़ी संस्कृति के वे सभी चिह्न मौजूद हैं जो नर्मदा से दूर जाने पर भी उपलब्ध होते हैं। पूर्वकालीन नार्मदीय सभ्यता का स्वरूप यद्यपि अब लुप्त हो चुका है, पर उपत्यका में बिखरी हुई लोक-साहित्य की सम्पत्ति और परम्पराओं में सुदूर इतिहास के वे अवशेष छिपे हैं जिनकी समता मालव-सभ्यता से सहज ही की जा सकती है।

नर्मदा-उपत्यका अपनी उपज के कारण सदैव ही खेतिहर मानव के आकर्षण का स्थल रही है। सम्पूर्ण उपत्यका में कृषि-सभ्यता का वर्चस्व निमाड़ी व्यक्तित्व का परिचायक सिद्ध होता है। उनके लोकगीतों में नर्मदा का प्रभुत्व, ओंकार मांधाता की स्तुति, कृषिगत विश्वास, सुदृढ़ परम्परा और जीवन के सारल्य का घोष विद्यमान है। नर्मदा के ठीक किनारे पर नाविकों की जाति 'नावड़या' की अपनी विशिष्ट परम्पराओं में नर्मदा एवं उससे सम्बन्धित नैसर्गिक अथवा अनैसर्गिक घटनाओं के उल्लेख तथा

१. निमाड़ सम्भवतः नर्मदा काण्ठा अथवा नर्मदा अहरा से बना हुआ शब्द है

गहरे अन्ध-विश्वास गुम्फित हैं ।

नर्मदा-उपत्यका के लोकगीतों की अभिव्यक्ति का माध्यम निमाड़ी बोली है जिसका मालवी से मिला-जुला 'कैरेक्टर' है । केवल कतिपय प्रयोग एवं उच्चारणगत वैशिष्ट्य के अतिरिक्त निमाड़ी मालवी से भिन्न नहीं । वस्तुतः उसकी आधार-भूमि मालवी ही है, जिसे स्वयं डॉ० ग्रियर्सन ने अपने भाषा सर्वे की बृहत् जिल्दों में स्थान देकर घोषित किया है । इतना ही नहीं, मालवी और निमाड़ी गीतों में काफी साम्य है । विवाह के बन्ने, देवी-देवताओं के गीत, बालकों के गीत, जन्म से सम्बन्धित गीत, जलमा, सूरज, बधावे, होली, सावण आदि अनेक गीतों की समानता नार्मदीय जीवन में प्रचलित गीतों से करने पर यह स्पष्ट हो जाता है । मालवा से लगाकर निमाड़ के छोर तक एक समान संस्कृति की धारा अविच्छिन्न रूप से बह रही है । विवाह अथवा किसी मांगलिक कार्य आरम्भ करने के पूर्व पूर्वजों को आमन्त्रित करने के लिए एक गीत गाया जाता है—

(५) सरग भवन्ती हो गिरधरनी
एक सन्देसो लई जाव
सरग का (अमुक) दाजी से यों कीजो
तम घर (अमुक) को याव
जेम सर आये सारजो हो
हमारा तो आवणा नी होय
जड़ी दया बज्जड़ कवाड़
अग्गल जड़ी लुआ की जी

(हे स्वर्ग की ओर जाने वाली गिद्धनी, एक सन्देशा लेती जा । स्वर्ग के (अमुक) दाजी से यों कहना कि तुम्हारे घर (अमुक) का विवाह है । जिस तरह भी हो सके तुम उसे पूर्ण करना, हमारा तो आना नहीं हो सकेगा । यहाँ सुदृढ़ किवाड़ जड़े हुए हैं जिसमें लोहे की अर्गलाएँ लगी हैं ।)

ठीक यही गीत मालवा में इस प्रकार की शब्दावलियों में अवगुण्ठित है—

(८) सरग भवन्ती सांवली एक सन्देसो लेती जा
जई न बूढ़ा गल्ला से यूँ किजे
तम घर वरदोड़ी हो
ताला जड्या लोह का ने बज्जड़ कंबाड़
काचा सूतर का पालना बन्ध्या है सरग दुवार
बरद करो बरदावना, हमारो तो आवणो नी होय

बालिकाओं द्वारा गाये जाने वाले दो गीतों का साम्य भी देखिए—

'गोगो' (निमाड़ी)

(९) बाप बेटा जीमण बेठा
नी लोटा म पाणी जी
चलो भावी जी पाणी लांव
अगली गागर तम भरो जी
पिछेली गागर हम भरां
गागर का बटका बटका
ओर मोती जिराये जी....

'सांझी का गीत' (मालवी)

(१०) म्हारा बिराजी जीमण बेठा
नी कलसा में पाणी जी
चलो देरानी चलो जेठानी
आपण चालां पाणी जी
ऐली सरवर तम भरो
पेली सरवर हम भरां जी
भरते-भरते अई लचकाना
आदी कल का अटका बटका
आदी कल का मोती जी

मोती लई ने चलवा लाग्या
लाडूलो ललकारे जी
ऊबोरे लालूड़ा म्हारा भई बिरा से केबादे
भई बिरा की सातर राणी
साती कामण गावे जी (उज्जैन जिले में प्रचलित)

नर्मदा-उपत्यका के लोकगीत-साहित्य का विस्तार उल्लेखनीय है। संक्षेप में हम उसे निम्न रूप में विभाजित कर सकते हैं—

प्रबन्ध गीत—कृष्णावतारी कथा, पण्डव कथा, अहिमन कथा, चन्द्रहास, नरसी मेहता, मंजी पंवार (मुंज पंवार), भिलना, काजल राणी, दामाभगत, धना जाट, नागजी, ग्यारस, आदि।

मुक्तक गीत—भरतरी बेराग, मृत्यु गीत, सिंगा भगत के गीत, गोपीचन्द, सप्ताह के गीत, कबीरा, तुलसी, कपास, तमाखू, पान-विशेष से सम्बन्धित गीत, लावनियाँ, गरबी, पंवाड़े, नाविकों के गीत, आदि।

स्त्रियों के गीत—होली, गणगौर, रणाबई, जन्म के गीत, विवाह के गीत, नाग महाराज, स्तुति गीत, चन्द्रसखी के भजन, मीरा की छाप वाले गीत, ऊँदरा, सास-ननद के गीत, गौना, विदाई, गरबी के गीत, ख्याली गीत, आदि।

बच्चों के गीत—साला मंगनी (मालवा छल्ला), गोगो, संजा, डेडर माता, घतोद्।

प्रबन्ध गीतों में मंजी पंवार धारा नगर का मुंज सम्बन्धी वीर काव्य है। उनका गोड़ों से युद्ध-वर्णन विजय और अनेक घटनाओं से युक्त उक्त प्रबन्ध प्रायः बरसात के दिनों में गाया जाता है जिसकी स्थायी टेक है—

(११) **धन रे सुरमा**
धन ल्हारी माता दुवारे
राणी को जायो पुंवार
ज्यों बल देंती माता चोसठ जोगनी
भैरव की आगेवान कयड़ा हिन्दु

'भिलना' गोपालक जातियों का गद्य-गीतात्मक प्रबन्ध है। एक ग्वाले को महादेव की कृपा से भिलना नामक पुत्र प्राप्त हुआ था। उसके जन्म लेते ही राजा के नगारे सीधे हो गए। बालक भिलना का जीवन युद्ध से आरम्भ हुआ। वह मालवा तक में राजा मोरध्वज से लड़ा। अन्त में उसकी कन्या से विवाह कर अपने जन्म-स्थान पर लौटा। गवली भारूड़, गूजर आदि जातियों में भिलना का प्रचार बहुत है। गूजर 'हीरा' (हीड़) भी गाते हैं। 'काजल राणी' का प्रचार भी शेष प्रबंधों के साथ निमाड़ में है। धार्मिक प्रबन्धों में 'ग्यारस' मालवा की तरह समस्त उपत्यका में प्रचलित है।

इसमें सन्देह नहीं कि नर्मदा-उपत्यका के जीवन में लोक-संगीत गहराई से समाया हुआ है। गाने का निमन्त्रण 'चलो आटो लगाने' कहकर दिया जाता है। चौपाल अथवा हताई में मण्डलियाँ जम जाती हैं। 'आटा लगाने' से तात्पर्य मृदंग के एक ओर बोल दुरुस्त करने के लिए आटा 'चोटाने' से है। मृदंग के बजने से गीतों का मुखर होना सहज ही सम्भव हो जाता है। मृदंग के अतिरिक्त ढप, झाँझ और ढोलक का प्रयोग गायक-मंडलियों में किया जाता है। स्त्रियाँ बिना साज के गाती हैं। क्योंकि उनके गीतों का सम्बन्ध रीति-रिवाज से अधिक है, इसलिए वे परम्पराया भी अधिक होते हैं। उनमें टिकाऊपन का तत्त्व होता है।

नर्मदा-उपत्यका के मृत्यु-गीत विशेष उल्लेखनीय हैं। आत्मा-परमात्मा के एकीकरण के भावों से लबरेज़ मृत्यु-गीत निमाड़ी बोली में 'मसाण्या गीत' कहलाते हैं। मृत शरीर के पास बैठकर गायक-दल दाह-संस्कार समाप्त होने तक इन्हें गाता रहता है। केवल युवा पुरुष अथवा नारी की मृत्यु पर उन्हें नहीं गाया जाता। मृत्यु-गीत वस्तुतः आध्यात्मिक, विरागी और सांसारिक लोक से ऊपर उठाने वाले भावों से समृद्ध हैं। उन्हें मृदंग के साथ सामूहिक रूप से गाया जाता है। उदाहरणार्थ एक मृत्यु-गीत लीजिए—

(१२) **आणो आयो रे परिब्रह्म को**
अरे सासरिया क जाण

आणो आयो रे परिब्रह्म को

चालो म्हार सांत की सई होण
अरे अपण न्हावण जावं
अरे कई देवा मन्दिर सिदारां
आणो आयो रे परिब्रह्म को

चलो म्हार सांत की सई होण
अरे अपण माथो गुंथावा
कई गुंथ्या कई गुंथनो
मोतिअन मांग पुरावां
आणो आयो रे परिब्रह्म को

चालो म्हारी सांत की सई होण
अरे खासी बाग लगाई
चंपा चमेली दोअ मोगरा
अरे खासो बाग लगायो
आणो आयो रे परिब्रह्म को

चालो म्हारी सांत की सई होण
अरे खासी चोली सिवाड़ी
कई रे सीया कई सीवणा
अरे देवा अंग लगावो
आणो आयो रे परिब्रह्म को

मृत्यु-गीतों के ऊपर मध्यकालीन साधना की छाप स्पष्ट है। नाथ-पन्थियों की शब्दावली का प्रवेश इन गीतों में सम्भवतः १५वीं शताब्दी के बाद हुआ। कबीर की छाप भी मृत्यु-गीतों में मिल जाती है, जिससे कबीर के माया-मोह से ऊपर उठे हुए व्यक्तित्व का लोक-जीवन पर प्रभाव

प्रकट होता है।

उपत्यका में दूसरा प्रभाव सन्त सिंगा का है। सिंगाजी एक गवली के घर पैदा हुए थे। अपने गुरु से वैराग्य की दीक्षा लेकर वे अपनी अथक साधना से सिद्ध पुरुष हो गए। कहते हैं सन्त तुलसीदास महेश्वर तहसील के निकट पीपल्या ग्राम में सिंगाजी से मिलने के लिए गये थे। औलिया पीर भी सिंगाजी से प्रभावित हुए। सिंगाजी की मृत्यु खण्डवा के निकट हुई। नर्मदा-उपत्यका के कृषकों में सिंगाजी का प्रभाव बहुत है। उनकी स्तुति में गाए जाने वाले गीतों के अतिरिक्त दलू और धन्ना भगत की छाप वाले गीत बहुत गाए जाते हैं। स्वयं सिंगाजी के बनाये हुए गीत भी कहीं-कहीं प्रचलित हैं। उनका एक गीत है—

(५३) ऐसा नर कू सेवणा
जिन जग को जिलाई
बड़वा भोपा सब कहे
जिन ठगे खाई जगाई
जिनका घर का मरी गया
वा कू क्यों न जिलाई।
बात करे सो क्या भये
आतमा कल पावे
फिरता-हिरता मरी गया
वा नर बैकुण्ठ पावे
तिरथ करे सो क्या भये
असनान करावे
जे नर जल कू सेवता
वा मगर कहावे।
जगन कोटि एक फल है
नित साद जिमावे
कह जण सिंगा पहचाणजो

वा नर बैकुण्ठ जाये ।

(तिरमख ऊंकार, घोव्या से प्राप्त)

नर्मदा-उपत्यका के संगीत में नारदी, ग्वालन गरबी, लावनी और पवाड़ा की धुनें पुरुषों में उल्लेखनीय हैं। पुरुषों के गीत प्रायः सामूहिक या बैठकी होते हैं, जो 'धतिग्गड़े' में आरम्भ होकर 'दौड़' या 'उड़ान' में आ जाते हैं। 'लावनी' और 'पवाड़े' का प्रभाव खानदेश से और गरबी का गुजरात से उपत्यका में प्रसारित हुआ है। भजनों में 'नारदी', 'चौताला' और 'हतई' के भजनों की अलग-अलग रंगतें हैं। लँगड़ी रंगत, बड़ी रंगत, छोटी रंगत, आड़ी और खड़ी रंगतें अलग-अलग लोक-संगीत के गाने की पद्धति को व्यक्त करती हैं। गरबी के भी विभिन्न प्रकार हैं जिन्हें चार पाई, दो पाई, डेढ़ पाई और एक पाई के बन्दों में बाँटा जा सकता है।

'किलगी-तुर्रा' का उल्लेख करना आवश्यक नहीं, क्योंकि वह बुद्धि-परक छन्द-कौशल को प्रगट करने का एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें दो दलों की संगीतबद्ध छान्दीय टक्करें होती हैं। 'किलगी-तुर्रा' शक्ति के उपासक का दल होता है और 'तुर्रा' शिव के। 'किलगी-तुर्रा' रीतिकालीन व्यवस्था में विकसित हुआ वह संगीत है जो राजस्थान और मालवा तक में मिलता है। उसे हमें लोक-संगीत से थोड़ा उठा हुआ मानना चाहिए, क्योंकि जुवाबी, अधर रकारी, तितारी, चौतारी, दुअंग, मनबसी, झड़, झड़ती, सिकस्ती, बहरतबीर, सनत, सेर, दूहा, आदि छन्द प्रकारों का प्रवेश उसके विकास पर प्रकाश डालता है।

नर्मदा-उपत्यका की उपज अच्छी है। जमीन न काली है और न भूरी, यद्यपि 'खड़ड़ी' और 'बहड़ी' उनके दो प्रकार द्रष्टव्य हैं। लोगों के पास खेती के औजार पुराने ढंग के हैं। उपत्यका के बैल 'सोन काबरे' होते हैं अर्थात् स्वर्ण और काले सफेद रंग की मिलावट वाले। निमाड़ी पुरुष सफेद रंग पसन्द करता है। वह कुरता या 'झूल' पहनता है तथा सिर पर लाल या पीली पगड़ी बाँधता है। स्त्रियाँ घाघरा और लुगड़ा पहनती हैं। वक्ष पर काँचली पहनती हैं। कुलमी, भारूड़, रजपूत, मट्ठे,

अहीर आदि जातियों की स्त्रियाँ 'काष्टा' लगाती हैं। उन्हें लाल रंग से विशेष चाव है। उनकी पसन्द, गहने और वस्त्रों का उल्लेख गीतों में छिटके पड़े हैं।

नर्मदा-उपत्यका मानव-विकास के इतिहास में उल्लेखनीय स्थल है। उसी प्रकार अपने लोक-साहित्य, संगीत और लोक-नृत्यों में भी वह समृद्ध एवं परिपूर्ण है।

१५

मध्य-भारतीय भीलों के विवाह-गीत

मध्य भारत, खानदेश, गुजरात, राजस्थान और मध्यप्रदेश के बनों और पहाड़ों में बसने वाली आदिवासी जातियों में भील एक साहसी और अपने ढंग की मजबूत कौम है। काला रंग, इकहरा शरीर और कटीली बनावट तथा हाथ में धनुष-बाण इनकी विशेषताएँ हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह जाति अत्यन्त प्राचीन है। महाभारत, रामायण, कथासरित्सागर एवं अन्य भारतीय ग्रन्थों में उपलब्ध 'भिल्ल' विषयक उल्लेख इन्हें बनचर ही प्रमाणित करते हैं। यद्यपि कतिपय विद्वानों ने इन्हें शक और सीदियन जाति के मिश्रण से बनी जाति बताया है, पर नवीनतम खोजों से यह धारणा निर्मूल हो चुकी है।

भील जाति कई उपजातियों में विभक्त है। अन्ध-विश्वासों और रूढ़ियों से ग्रस्त होकर भी यह निर्भय, स्वाभिमानिनी और धैर्य-शीला है। इसके विषय में विभिन्न विशेषताओं का उल्लेख न करते हुए केवल विवाह एवं विवाह-गीत का ही यहाँ संक्षेप में परिचय दिया जा रहा है।

'याव' (विवाह)

भीलों में तीन प्रकार के विवाह प्रचलित हैं—

(अ) वर-पक्ष के लोग कन्या-पक्ष के यहाँ जाकर विवाह निश्चित करते

हैं। यह साधारण तथा प्रचलित स्वरूप है।

लुगड़ी

(आ) दारिद्रय के कारण, आर्थिक सामर्थ्य के अभाव में वर-सहित कुछ व्यक्ति कन्या के यहाँ जाते हैं तथा मामूली रीतियों को सम्पन्न करके उसे नवीन वस्त्र (पोतरया) पहनाकर वर-वधू दोनों को लिवा लाते हैं। इसे 'लुगड़ी' प्रथा कहते हैं।

झगड़ो

(इ) तीसरी प्रथा 'झगड़ो लेणो' कहलाती है। लड़का यदि लड़की को भगाकर अपने घर ले आए तो लड़की वाले 'झगड़ा' खड़ा करते हैं। उस समय लड़के का पिता लड़की वाले की माँगों को स्वीकार करके 'झगड़ा' समाप्त करता है। 'झगड़ा' तोड़ने की क्रिया लड़के और लड़की के पिता एक लकड़ी को दोनों ओर से पकड़कर उसे एक ही झटके में तोड़कर व्यक्त करते हैं। इससे आपसी झगड़ा समाप्त समझा जाता है।

यदि 'झगड़ा' चुकाने में लड़की को भगाने वाला व्यक्ति तैयार नहीं होता है तो सामूहिक प्रयासों से लड़के को लड़की का दूध पीने के लिए मजबूर किया जाता है, अर्थात् दूध पीकर वह सिद्ध करे कि जिस लड़की को वह लाया है माँ के समान है। पर ऐसी स्थिति बहुत कम आती है। झगड़ा समाप्त करने के लिए जो 'रकम' माँगी जाती है वह 'विजत' (इज्जत) कहलाती है। 'विजत' देने पर भी स्तनपान के लिए व्यक्ति को मजबूर किया जाता है जिससे कि लड़की को किसी अन्य के साथ ब्याहने पर कौमार्य का प्रमाण बना रहे। झगड़ा तोड़ने की 'रकम' लेकर लड़की वाला, मध्यस्थ व्यक्तियों को 'मद' (शराब) पिलाता है और उस 'रकम' से लड़की के लिए आभूषण बनवा देता है।

'खेड़ा-देव' की पूजा

विवाह का आरम्भ 'खेड़ा-देव' (ग्राम के सीमावर्ती देवता) की पूजा से

होता है। यह पूजा साँझ के समय वर और वधू-पक्ष के लोग अपने-अपने स्थानों पर 'मानकर' के हाथों से सम्पन्न करते हैं। पूजा में पका हुआ दलिया, चावल, 'कावली' (चूड़ियाँ), टीकी, कपास की आँटी तथा सिन्दूर आदि चढ़ाया जाता है। पूजा 'मानकर' जाति का पुरुष ही करता है, स्त्री नहीं। 'मानकर' ही भीलों में निमन्त्रण देने से लगाकर अन्य सभी कार्य करता है, जो साधारण भारतीय समाज में नाई को करना पड़ता है।

मुर्गी की स्वीकृति

निमन्त्रित भीलों को विवाह वाले घरों में मुर्गी खिलाई जाती है। भील और भिलाला दोनों का विश्वास है कि मुर्गे अथवा मुर्गी को उनकी स्वीकृति के बिना नहीं काटते। काटने के पूर्व उनके माथे पर पानी की धार डाली जाती है। पानी को हटाने के लिए मुर्गा अथवा मुर्गी स्वाभाविक रूप से अपनी गरदन हिलाते हैं। गरदन का यह स्वभावगत व्यापार ही भीलों के लिए स्वीकृति का संकेत है। उसे 'हाँ' समझकर वे प्रसन्नतापूर्वक 'दराँते' से गरदन पर वार करते हैं।

'देवत' (दावत)

विवाह करवाने के लिए इन्हें ब्राह्मणों की आवश्यकता नहीं। 'गिरसरी' तथा 'देवत' (दावत) से विवाह आरम्भ होता है। उसमें खिचड़ी और शराब की व्यवस्था की जाती है। यों विवाह के पूर्व लड़के और लड़की को किसी हाट-बाजार में एक-दूसरे से पहचनवा दिया जाता है। दोनों ओर से पसन्दगी को अवश्य महत्त्व दिया जाता है। मुहूर्त इनमें कोई भी नहीं निकालता। दोनों पक्ष के लोग जो दिन निश्चित कर लें वही दिन मुहूर्त मान लिया जाता है।

भीलों में एक ही गोत्र में विवाह वर्ज्य है। 'आटा-साटा' एक गोत्र में सम्भव है। भिलालों में जो 'बारम्या' गोत्र के होते हैं वे 'माण्डवा' छवाते हैं। वर-पक्ष के लोग बरात ले जाते समय 'काँकड़' पर जुआर रखकर

नारियल फोड़ते हैं। यदि कोई नदी बीच में आ जाय उसे भी प्रणाम करके नारियल चढ़ाते हैं।

गीत और नृत्य

भील-विवाह में गीत और नृत्य आनन्दोल्लास के विशेष साधन हैं। अधिकांश गीत नृत्य के साथ ही गाये जाते हैं। नृत्य के लिए 'माँदल' (मृदंग) बजाई जाती है, जिसे बलाई बजाते हैं। वैसे तो अनेक गीतों में मद पीने का उल्लेख है, पर शराब के अभाव में अपनी घोड़ी और बच्चों तक के बेचने की सलाह दी जाती है। कलाल के घर यदि किसी का सम्बन्ध हो जाय तो बड़ा अच्छा समझा जाता है। भीलों के विवाह-गीतों की संख्या अधिक नहीं है। इन गीतों में उनका जीवन व्यक्त होता है। घर-बार, जातिगत सम्बन्ध, एवं रागात्मक वृत्तियों की अभिव्यक्ति गीतों में हुई है। मध्यभारत में बड़वानी के इर्द-गिर्द भीलों की बड़ी बस्ती है। बाघ-क्षेत्र की ओर के भील अपने गीतों में बड़वानी के बाजार का उल्लेख करते हैं—

छोटी बड़वानी को लांबो बजार
गाड़ी खड़ी राख म्हार रँगीला पावला....

'माँदल' की ध्वनि के साथ सामूहिक नृत्य आरम्भ होते हैं। 'दूबड़ी' (तबले के डग्गे जैसा वाद्य जो कीमची से बजता है) और 'थाली' ताल में योग देते हैं। स्त्रियों के नृत्य गीतों से भरे होते हैं। मोली, नेवताली, पाली, पचमुण्ड्या पाली, ओली, आदि नृत्य गीतों की कड़ियों से बँधे चलते हैं। नृत्य के पद-सञ्चालन गीतों की कड़ियों के अनुसार लघुतम विस्तार से सम्बन्धित होते हैं। गीतों के स्वरों का विस्तार भी सीमित है, जो एक ही 'टेम्पो' में चलता है। अधिक स्पष्टीकरण के लिए देखिए एक भील-गीत की धुन निम्न स्वरों में चलती है—

×	०	×	०
ग रे ग रे ग	रे सा सा ध	रे ग रे सा	ग ग
धँ व ली ऽ	तु म ड़ी ना	ध व. ला ऽ	बी ज
×	०	×	०
ग रे सा	ग रे सा	सा ध —	ग — रे
हो ल म्बी	ना ड़ नी	तुम ड़ी ऽ	हो ऽ ऽ

नीचे कुछ गीत दिये जा रहे हैं, जो बाघगुफा (म० भा०) के आस-पास के भीलों में प्रचलित हैं। भाषा की दृष्टि से इन गीतों की भाषा सरदार-पुर (म० भा०) के आगे कुक्षी-मनावर के घाटे में बोली जाने वाली टक-साली भीली है जिसे जॉर्ज ग्रियर्सन ने 'लिंग्विस्टिक सर्वे' में बाघ को भीलों का केन्द्र-स्थल मानकर मान्यता दी है।

गीत

('गिरसरी' के समय दूल्हे के समक्ष नृत्य के साथ गाया जाने वाला गीत)

(१४) धँवली[1] तुमड़ी[2] ना धवला बीज
हो लम्बी नाड़ नी तुमड़ी—हो ऽऽ
घर लियो यायने छिनाल[3] को हाथ
हो लम्बी नाड़ नी तुमड़ी—हो ऽऽ
पाछे करयो म्हार किशनार्‌यो हाथ
हो लम्बी नाड़ नी तुमड़ी—हो ऽऽ
धवली तुमड़ी ना धवला बीज....

तूमड़ी का उल्लेख यद्यपि निरर्थक है, किन्तु आदिवासियों के गीतों में ऐसे निरर्थक प्रसंग धुनों को सहारा देते हैं।

---

१. सफेद
२. तूमड़ी
३. दुश्चरित्रा

(१५) कलाल की पोरी[1] ने भाटी गले
म्हारी परनी मन पे
तभी गाओ—तभी पीओ
तभी जोभ लेव भोला भरतार[2]
नखरो मत करो हो—करो
रमजो[3] मत करो हो—करो
तभी पेयो तमारा बालूड़ा[4] पीवो
हम पेयो हो कलालन बाई।

× × ×

कूण कहेयो बेटा गोदड़े[5] बेसो[6] हो
माय कहेयो बेटा गोदड़े बेसो हो
माँ एक बेटो लाड़लो—गोदे बेसी गेयो
बेनू[7] कहेयो बेटा गोदड़े बेसी गेयो।

× × ×

ओ म्हारी सई[8] ओ खुमस्यो[9] जमई
उकी हमारी रामी रामी—हो
खुमस्यो छिपाड़ी लीलड़ी[10]—हो

१. लड़की
२. प्रियतम
३. मनवार
४. लड़के-बाले
५. गुदड़ी
६. बैठो
७. बहन
८. सहेली
९. मुँह छिपाने वाला
१०. घोड़ी

कलाल घरे मेलो लीलड़ी—हो
हमकू दारू[1] लाई पाम्रो—लीलड़ी हो
माई बई का गला पड़्या[2]
नन्दा कलाल घरे मेलो—लीलड़ी हो
सासू का गला पड़्या
सराब लई पाम्रो—लीलड़ी हो
म्रो मनक्के लोभे—लीलड़ी हो।

× × ×

नाख्यो[3] गोफण गोलो[4]
दगड़ो[5] मार्‌यो चीरलो[6]
काला सा खेत नाखी ज्वार
उगो—बाजरो ऽ ऽ।

× × ×

कालो घोड़ो हो—चार रॉंज्या पाई[7]
चाँदी[8] डाली दे हो रागड्या—म्रापणो घोड़ो
पाणी पई दे हो रागड्या—म्रापणो घोड़ो
जमादार को घोड़ो—ठेकेदार को घोड़ो
कालो घोड़ो हो—म्रापणो घोड़ो[9]।

---

१. शराब
२. गले बैठ गए
३. फेंका
४. गोला
५. पत्थर
६. चिड़िया
७. रंगे पाग
८. चन्दी
९. गीत बाधक्षेत्र-पर्यवेक्षण के समय (१६५१) लेखक द्वारा संकलित किये गए हैं

१६

घुमन्तु कंजरों के लोकगीत

परिचय

भारतवर्ष में ऐसी अनेक जातियाँ हैं जिनके इतिहास की कड़ियाँ बीते हुए समय की गहराई में कहीं लुप्त हो गई हैं। ऐसी स्थिति में दन्तकथाएँ अथवा परम्परागत मौखिक साहित्य एवं रीति-रिवाजों के सहारे उनके विच्छिन्न सम्बन्धों को कहीं-कहीं जोड़कर अनुमानित निष्कर्षों पर पहुँचने के लिए पिछली शताब्दी से ही प्रयास चल रहे हैं। वे जातियाँ, जिनका इतिहास आज संदिग्ध है एवं जिनमें कई विचित्र कथाओं और प्रवृत्तियों का प्रचलन है, समाज-शास्त्रियों तथा नृतत्वविदों के लिए विशेष अध्ययन की सामग्री बन गई हैं। सुदूर इतिहास के गर्भ में किन्हीं कारणों से जिन जातियों का सम्पर्क अपने स्थान से छूट गया है अथवा जिनकी जीविका के साधन नष्ट हो गए हैं वे क्रमशः अराजकतावादी गिरोहों के रूप में जगह-जगह फिरने लगीं। परिस्थितियों में परिवर्तन न होने से उनमें चोरी, डकैती, लूटमार आदि अपराधी प्रवृत्तियों का समावेश हो गया। भारतीय शासन की जाति-सूची में ऐसी जातियों को जरायमपेशा घोषित किया गया।

जरायमपेशा जातियाँ समूचे भारतवर्ष में पाई जाती हैं। अकेले मध्य-वर्ती भारत में बंजारे, सोंधिये, मोंधिये, साँसी, मीना, कंजर, आदि कितनी ही ऐसी जातियाँ हैं जिनका जीवन खतरनाक प्रवृत्तियों से भरा है।

कंजर इनमें सबसे अधिक अपराधी प्रवृत्तियों वाली जाति है जो उत्तर भारत में आज भी स्थान-स्थान पर घूमती पाई जाती है। अपराध कंजरों का भूषण है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि स्त्रियाँ मुगलानियों जैसे वस्त्र पहनती हैं और पुरुष मध्यवर्ती भारतीय ग्रामीणों जैसे। यह जाति वर्षों से घुमन्तु जीवन व्यतीत कर रही है और अब पिछले कुछ वर्षों से गाँवों के पास स्थायी डेरे डालकर बसने का प्रयत्न कर रही है। ऐसे डेरों पर शासन की कड़ी निगाह रहती है। डेरों की बसावट अस्थायी रूप से बसे हुए किसी गाँव से कम नहीं होती।

कंजर राजस्थान, मेवाड़, मध्य प्रदेश आदि भागों में विशेष रूप से मिलते हैं। इसका कारण स्पष्ट रूप से यही है कि इनका सम्बन्ध मेवाड़-राजस्थान से बाहर नहीं है। इनके अनुसार गूजरों के ये मंगत हैं। प्राप्त दन्तकथाओं से प्रकट है कि बगड़ावत गूजरों के मालवा में आने पर उनके साथ ये लोग भी चले आए। यद्यपि इनके गोत्र राजपूतों से मिलते हैं, तथापि इनका धन्धा गूजरों के यहाँ ढोलक बजाकर गाना और शारीरिक करतब दिखाना-मात्र था। इससे यह भी अनुमान लगाया जाता है कि राजपूतों में परम्परा से प्रचलित विलासिता के कभी ये शिकार हुए और फिर उन्हीं के रक्त से अपना सम्बन्ध प्रकट करने में ये अपना गौरव समझने लगे। जो हो, आज यह जाति अपराधी है; शारीरिक करतब दिखाना अब केवल नाम-मात्र के लिए इसमें शेष है।

शासन की दृष्टि में आ जाने के पश्चात् इस जाति का शोषण प्रारम्भ हुआ। यद्यपि शासन ने इसे पिछले कई वर्षों पूर्व बसाने का प्रयास किया था, तथापि तेज़ और तर्राट होने के कारण किसी भी प्रान्तीय सरकार ने इस विचार को गम्भीरतापूर्वक कार्यान्वित करने में योग नहीं दिया। ऐसी स्थिति में छोटी रियासतों और ठिकानों ने इसे अपनी-अपनी सीमा में बसने-मात्र की सुविधाएँ दीं जो कि आन्तरिक रूप से इस शर्त पर थीं कि वे अपनी सीमा के बाहर चोरी करें या लूटें, पर जो कुछ हस्तगत करें उसमें कुछ भाग उन्हें भी प्रदान करती रहें। अतः अप्रत्यक्ष रूप से शासन

ने ही इस जाति की अपराधी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया।

कंजरों के गीत

कंजरों के गीतों और नृत्यों में वे सभी प्रवृत्तियाँ, प्रथाएँ, विश्वास और संस्कार परिलक्षित होते हैं जिनका जीवन से नित्य का सम्बन्ध है। छोटे-मोटे थानेदारों और कोतवालों द्वारा उन्हें कैसा कष्ट दिया जाता है, इसका संकेत विवाह के एक गीत में देखिए—

'बेना'

(१६) काँ चाल्या रे राई[1] बेबा
कलकलती[2] दुपार्‌या में—काँ चाल्या रे
म्हारा दादा का लेख्या कागद म्हार आया रे
म्हारा काका रा लेख्या कागद म्हार आया रे
म्हारा मामा रा लेख्या कागद म्हार आया रे
म्हारा मोटा[3] बीरा रा लेख्या कागद म्हार आया रे
धीरे बोल ए बालक बेनड़ी[4]—धीरे बोल
सिन्दरसी को थानदार सुने डंड लेसी रे
सिन्दरसी को मुन्सी सुने डंड लेसी रे
साजापुर को कोतवाल सुने डंड लेसी रे
धीरे बोल ए बालक बेनड़ी—धीरे बोल

(कहाँ चले रे राय वर, इस कलकलाती हुई (तेज) दुपहरी में कहाँ चले रे? तेरे दादा का लिखा हुआ पत्र आया था, तेरे काका का लिखा हुआ पत्र मुझे आया था, तेरे मामा का लिखा हुआ पत्र मुझे आया था, तेरे बड़े भाई का लिखा हुआ पत्र मुझे आया था! धीरे बोल ए बालक

१. राय
२. तेज
३. बड़ा
४. बनड़ी, दुलहन

दुलहन धीरे बोल; सुन्दरसी का थानेदार सुनेगा तो दंड लेगा, सुन्दरसी का मुन्शी सुनेगा तो दंड लेगा, शाजापुर का कोतवाल सुनेगा तो दंड लेगा, धीरे बोल ए बालक दुलहन धीरे बोल !)

उक्त गीत मध्य भारत के शाजापुर जिले के ग्राम सुन्दरसी से प्राप्त किया गया है। सुन्दरसी में एक थाना है जहाँ प्रतिरात बीस वर्ष से अधिक उम्र वाले कंजरों को रोक दिया जाता है, जिससे आसपास किसी प्रकार की वारदात न होने पाए। प्रातः छः बजे सबको छोड़ दिया जाता है। विवाह तक के लिए दंड लेने का संकेत कंजरों के जीवन से ही गीत में अवतरित हुआ है। दूसरा गीत है जिसमें किसी अन्य डेरे का दूल्हा आकर दुलहन को ब्याह ले जाता है। गीत विदाई के समय गाया जाता है।

'चूला री सोभा'

(१५) ये तू तो चूला री शोभा ले गयो रे लाड़ा[1]
परन घर चाल्यो रे लाड़ा
ये तू तो डेरा री सोभा ले चल्यो रे लाड़ा
ये तू तो घर की री सोभा ले चल्यो रे लाड़ा
परन घर चाल्यो रे लाड़ा
ये म्हारा मायन[2] रो मनड़ो हरख्यो
ये म्हारा बाबलियारो[3] मनड़ो हरख्यो[4]
ये तू तो रोटा री सोभा ले चाल्यो रे लाड़ा
परन घर चाल्यो रे लाड़ा

दूल्हे को सम्बोधित करके स्त्रियाँ गाती हैं कि तू चूल की शोभा ले जा रहा है, तू हमारे डेरे की, हमारे घर की शोभा ले जा रहा है। तेरी माता

१. दूल्हा
२. माता
३. पिता
४. हर्षित हुआ है।

तथा तेरे पिता का मन हर्षित हुआ है, पर तू हमारी रोटी की शोभा ले चला है; तू विवाह करके अपने घर जा रहा है।)

कंजरों के गीतों में दारू (शराब) और बकरे को बड़ा महत्त्व दिया गया है। वास्तविक जीवन में दारू कंजरों का दैनिक पेय ही बन गई है। बकरा-बकरी और मुर्गियाँ तो ये पालते ही हैं। शराब के साथ मांस का सम्बन्ध स्वाभाविक है। अतः बकरा जैसी वस्तु कैसे छूट सकती है! कलाली की दुकान, कलालन (मद बेचने वाली), आदि गीतों के उपादान हैं जो अधिकांश कंजर-गीतों में उपलब्ध हैं। एक दारू सम्बन्धी गीत है—

'दारू'

(१८) बादल[1] भर ल्याओ रे बेना म्हारी ज़्याना[2] पीवे
ओंडी-ओंडी[3] नाल खोदो रे बेना म्हारा घुड़ला[4] पीवे
झारी-सी भर लाऊ[5] रे बेना म्हारी लड़मन[6] पीवे
म्हारी दुलड़ी[7] पीवे
बादल भर लाउ रे बेना म्हारी ज़्याना पीवे

(हे दूल्हे, प्याले भर लाओ (दारू के), तेरी प्रियतमा पीने की इच्छुक है। (शराब के लिए) गहरी नालियाँ खुदाओ कि तेरे घोड़े पी सकें। हे दूल्हे, अपनी लाड़ी (दुलहन) के लिए झारी भर लाओ, वह पीने की इच्छुक है। हे दूल्हे, अपनी प्रियतमा के लिए प्याले भर लाओ।)

एक दूसरे गीत में बालम मद के नशे में स्थान-स्थान पर बिलमा रहा

१. प्याला
२. प्रियतमा
३. गहरी
४. घोड़े
५. लाओ
६. लाड़ी
७. दुलहन

है। वह अपने मनोनुकूल वस्तु जहाँ भी देखता है वहीं रीझ जाता है। कलाली की दूकान पर दारू, मोची की दूकान पर मोचिन, गूजर के यहाँ बकरा, सुनार के यहाँ हँसुली (गले का आभूषण), ससुराल में प्रियतमा, पलंग और बनड़ी की चाल, तथा कुमार की गलियों में चँवरियाँ देखकर वह रीझा जा रहा है। सम्पूर्ण गीत है—

'बेनड़ो'

(१८) कलालारी गलिया बिलम रियो बेनड़ो
रीझ गयो म्हाराज़ रीझ ग्यो बेनड़ो
अब तो त्हारी दारू पियारी लागे बेनड़ा
मोचीरा री गलिया बिलम रियो बेनड़ो
मोचीड़ी देख रीज़ ग्यो म्हाराज़ बेना
अब तो त्हारी मोचड़ी पियारी लागे बेनड़ा
गुज़रा के गलिया बिलम ग्यो बेनड़ो
बोकरो देख रीज़ ग्यो म्हाराज़ बेना
अब तो त्हारो बोकड़ो पियारो लागे बेनड़ा
सुनारा री गलिया बिलम ग्यो बेनड़ो
हँसुली देखी रीज़ ग्यो म्हाराज़ बेना
अब तो त्हारी हँसुली पियारी लागे बेनड़ा
सुसराजी गलिया बिलम ग्यो बेनड़ो
ढोलणियो[1] देख रीज़ ग्यो बेनड़ो
अब तो त्हारो ढोल्यो[2] पियारो लागे बेनड़ा
कुमारा री गलिया बिलम ग्यो बेनड़ो
चोरिया[3] देखी रीज़ ग्यो म्हाराज़ बेना

१. प्रियतमा
२. पलंग
३. मंडप की चाँवरिया

अब तो म्हारी चोरी पियारी लागे बेनड़ा।

कंजरों की वैवाहिक प्रथाएँ हिन्दुओं से प्रभावित हैं। विवाह के अवसर पर पण्डित के स्थान पर दूल्हे की बुआ ही हस्तमिलन कराती है। बारात आती है; दूल्हा तारण मारता है। उसी समय का एक गीत है जो दुलहन पक्ष की ओर से गाया जाता है—

'तारण'

लेर्‌यो[1] ताण रे गुमाड़िरा[2] लेर्‌यो ताण रे
म्हारी बाजूबन्द लूँबल[3] ए कंठी मेलो मणियो[4]
बीजली का झलके[5] से लग जायगा रे
लेर्‌यो ताण रे गुमाड़िरा

(हे गुमान भरे, लहरिया-तान दे। मेरे लिए लूम वाले बाजूबन्द और मणिखचित कण्ठी प्रदान कर। बिजली की चमक से मुझे लग जाने का डर है; लहरिया तान दे।)

कंजरों के अनेक गीतों में प्रथाओं का सम्बन्ध तो है ही, पर ऐसे कई स्वतन्त्र गीत हैं जिनमें उनके उल्लास, राग-द्वेष और इतिहास की सामग्री तथा शोषकों के विरुद्ध घृणा की अभिव्यक्ति निहित है। गूजरों का उल्लेख अनेक गीतों में है। बगड़ावत गूजर 'भोजा' और उसकी गायों का वर्णन कई गीतों में मिलता है। गूजरों के खण्ड-काव्य 'हीड़' की कथाएँ सहज ही इन गीतों से टकरा जाती हैं। 'बिजोरी' कंजरों की ऐसी नायिका है जिसके पाये के अपने को बताने में वे गौरव अनुभव करते हैं। नखरगढ़ के राजा ने उसके साथ धोखा किया और वह मार डाली गई। गीतों में

१. लहरिया
२. गुमान भरे
३. फुँदे वाला बाजू का आभूषण
४. मणियों से जड़ित कण्ठी
५. झलक, चमक

बिजोरी की याद इसी घटना के साथ सम्बन्धित है। कंजर नखरगढ़ के राजा के हाथ से दान लेना उत्तम नहीं समझते। उनके लिए बगड़ावत गूजरों के हाथ का दान ही यथेष्ट है। बिजोरी के एक बड़े गीत में यह प्रकरण भी बड़े दर्द के साथ गाया जाता है—

नी ल्यॉं रहारा हाथ को दान राजा
ये लेस्यॉं रे चोबीस बगड़ावत रहारा हाथ को दान....

१७

'बालाबऊ'

धरती के विभिन्न स्थानों के लोक-विश्वासों की पृष्ठभूमि में मानव के मूलभूत सम्बन्ध और सामूहिक अनुभूति के सामान्य तथ्य निहित हैं। लोक-गीतों में प्राप्त भावों की लोकप्रिय धुनों के सहारे जो अभिव्यक्ति परम्परात्मक रूप में आज भी चली आ रही है, उसमें भले ही लघुत्तम सत्य (कहीं-कहीं) हो, पर वह एकदम असत्य नहीं है।

अनेक भारतीय लोकगीत रीति-रिवाजों, धार्मिक अनुष्ठानों, टोने-टोटकों, अन्ध-विश्वासों एवं अन्य प्रथाओं के साथ जुड़े हैं तथा उन्हीं के क्रिया-व्यापारों के साथ गाये जाते हैं। यद्यपि इस प्रकार के गीतों में अवश्य ही शब्द-सम्बन्धी परिवर्तन का होना स्वाभाविक है, तथापि उनके मूल संगीत एवं मूल भावों में विश्वास के स्थायी सूत्र नष्ट नहीं हो पाते। इस दृष्टि से गीतों का गेय-तत्त्व एवं उनकी अभिव्यक्ति-शैली लोकवार्ता-साहित्य में विशेष महत्त्व रखते हैं।

भारतीय लोकगीत हिन्दी लोक-वार्ता-साहित्य के उपयोगी रत्न हैं। उनमें निहित विशेष संकेत, उपादान, देश-कालगत वर्णन और मिली-जुली संस्कृति का चित्र सभी जातिगत मनोभावों के उद्घाटन में सहायक सिद्ध होते हैं। 'बालाबऊ' (बालाबहू) नामक मालवी-गीत इसी उद्देश्य से आगामी पंक्तियों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

'बालाबऊ' का गीत मालवा में मुख्य रूप से मध्यभारत के शाजापुर, देवास और उज्जैन जिले के गाँवों में गाया जाता है। आषाढ़ में वर्षा होने में विलम्ब होता देख स्त्रियाँ इसे मध्य-रात्रि के पूर्व एकत्र होकर करुण-रस में गाती हैं। गीत के सम्बन्ध में यह विश्वास है कि उसके गाने पर शीघ्र ही वर्षा आरम्भ हो जाती है। इस विश्वास के पीछे आंशिक रूप से एक सत्य घटना का उल्लेख किया जाता है। शाजापुर जिले के ग्राम सुन्दरसी के निकट एक तालाब है जिसे 'बालामाता' का तालाब अथवा 'बालोण' (ग्राम का नाम) का तालाब कहते हैं। कहा जाता है कि जब उक्त तालाब खुदवाया गया तो उसमें जल नहीं आया। वह सूखा ही रहा। एक ब्राह्मण-पुत्र के कथन पर उसमें एक बेटे-बहू की बलि दी गई और आश्चर्य की बात है कि उसके बाद ही उसमें जल हिलोरे लेने लगा।

इसके साथ ही हमें एक गीत की जानकारी और मिली है। मध्यभारत के निमाड़ जिले के सेगाँव तहसील में खरगुन बिरला नामक ग्राम है। वहाँ ६-७ मील के घेरे में पानी से भरा हुआ एक तालाब है। इस तालाब के निर्माण की कहानी 'बालाबऊ' की कहानी से काफी निकट है। निमाड़ी में प्रचलित 'कुलबन्ती बहू' का गीत प्रायः स्त्रियाँ गाया करती हैं।

कहते हैं बिरला ग्राम के निकट पानी का प्रायः अभाव रहा करता था। जहाँ तालाब है वहाँ किसी समय एक बावड़ी थी जिसमें बहुत कम पानी रहता था। चूँकि आसपास के ग्रामों में पानी का प्रबन्ध नहीं था इसलिए सब लोग सिमटकर उस बावड़ी पर एकत्र हो जाया करते थे। भीड़-भाड़ और जल की कमी से जो झगड़े पनघट पर हुआ करते हैं, वैसे ही झगड़े वहाँ भी होते रहते थे। एक दिन गाँव का पटेल ऐसे ही दृश्य को देखकर बड़ा चिन्तित हुआ। उसने उसी रात स्वप्न देखा कि देवी कह रही हैं कि यदि वह अपने पुत्र और पुत्रवधू को बावड़ी में समा दे तो जल का कष्ट दूर हो जायगा। प्रातःकाल पटेल ने यह बात अपने बेटे-बहू से कही। दोनों तत्काल तैयार हो गए और पूजा-पाठ करने के पश्चात् बावड़ी में उतर गए। उनके समाते ही चारों ओर जल-ही-जल हो गया। इस प्रकार बावड़ी

एक बड़ा तालाब बन गई। इस कथा में अन्तिम बात यह भी कही गई है कि बहू के प्रताप से पटेल प्रतिदिन तालाब के किनारे जाकर भोजन माँगता तो जल की सतह पर दो चूड़ियों वाले हाथ भोजन की थाली लेकर प्रगट हो जाया करते थे।

यह अवश्य ही किसी बलि की कहानी का सुघड़ रूप है।

आदिम जातियों में वर्षा के लिए जिन आयोजनों का वर्णन हमें ज्ञात है उनमें बलि का विशेष महत्त्व है। ग्रामीण सभ्यता में यह प्रवृत्ति एक अवशिष्ट की भाँति विद्यमान है। 'बालाबऊ' के गीत में बलि की यह कहानी अवश्य किसी घटना से छनकर जुड़ गई है। इतना अवश्य है कि कुएँ, बावड़ी आदि से बलि का सम्बन्ध भारतीय लोक-वार्ता का एक अंग रहा है। विश्वास की दृढ़ता उसे आज तक टिकाये हुए है। लेख में प्रस्तुत 'बालाबऊ' गीत की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

मालवा में राजा ओड़[1] थे। उनकी रानी ओड़नी मथुरागढ़ की थी।

---

१. मालवी में कुएँ के समीप खेत में पानी देने के लिए बनाई जाने वाली मिट्टी की ओट को भी 'ओड़' कहते हैं। जल से सम्बन्धित होने के नाते 'ओड़' नाम रूपकवत प्रतीत होता है। 'ओड़' एक जाति भी है जो मज़दूरी करती है। वैसे ओड़ राजा का कोई उल्लेख मालवा के इतिहास में नहीं मिलता। गुजरात में जसमा ओड़न की एक कथा प्रचलित है जिसे १२वीं शताब्दी के गुजरात के राजा सिद्धराज ने उसके रूप की चर्चा सुनकर अपने राज्य में तालाब खुदवाने के लिए आमन्त्रित किया था। सिद्धराज ने उसे प्राप्त करने के लिए अनेक प्रयत्न किए, पर जसमा अपने सत से डिगी नहीं। सम्भवतः जसमा ओड़न और उसके द्वारा तालाब खुदवाने की घटना का प्रस्तुत तालाब के प्रसंग से सहज ही जुड़कर, 'राजा ओड़' का यहाँ काल्पनिक अवतरण हो गया है। मालवा में अधिकांश जातियों का आगमन गुजरात की ओर से ही हुआ है, अतः गुजराती लोकवार्ता का मालवा और निमाड़ में प्रचलित होना

एक समय ओड़-ओड़नी बालोण ग्राम की ओर आए। रानी ने कुएँ-बावड़ी खुदवाए और राजा ने एक तालाब। रानी के कुएँ-बावड़ी जल से भर गए, पर तालाब में जल नहीं आया। ब्राह्मण का पुत्र बुलाया गया। उसने अपने पोथी-पत्र में देखकर कहा, "राजा, कहूँ तो कहा नहीं जाता, नहीं कहूँ तो रहा नहीं जाता, सरोवर आपके बड़े बेटे-बहू का भोग माँगता है।"

राजा की आँखों में ढलमल नीर आ गया। जाकर उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र हंसकुंवर से यह बात कही। पुत्र के कहने पर वह अपनी बहू के पीहर गये। बालाबहू ने जल गरम करवाया और उत्तम भोजन तैयार किया। राजा ने उन्हें स्वीकार न करते हुए तालाब के भोग की बात बताई। बालाबहू तैयार होकर ससुराल आई। गाँव में बुलावा दिया गया। चौक पुराया, आभूषण और नवीन वस्त्रादि धारण कर दोनों ने शृङ्गार किया। इस प्रकार तैयार होकर दोनों सरोवर पर आए।

बालाबहू-हंसकुंवर ज्यों-ज्यों सरोवर की एक-एक पेड़ी पर पैर रखते त्यों-त्यों उसमें जल बढ़ता जाता। जल बालाबहू के केश छूने लगा। सातवीं पेड़ी पर चरण रखते ही जल बालाबहू की वेणी तक आ गया। उसने कहा—"ससुरजी, इस ओर मुँह फेरो, सरोवर हिलोरे ले रहा है।"

आँखों में नीर भरकर श्वसुर ओड़ ने कहा—"मेरी बालाबहू, जल तुम्हारे जूड़े तक आ गया, अपने हाथ समेटो।"

आशीर्वाद देते हुए बालाबहू-हंसकुंवर जल में समा गए।

गीत निम्नलिखित है—

बालाबऊ

(२०) **राजा, काँय[1] से आया दोई ओड़-ओड़नी**
गड़ ओ मथरा से आया ओड़नी

कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। (जसमा-ओड़-सम्बन्धी गीत गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित रासमाला में देखिए।)

१. कहाँ अथवा क्या

राजा, मालवा से आया जी ओड़
काँय उतरा राजा ओड़ने
राजा, काँय उतरा रानी ओड़नी
मेलाँ[1] उतरा राजा ओड़ने
राजा, कचेर्याँ[2] उतरा रानी ओड़नी
काँय जिमाड़ा[3] राजा ओड़ने
राजा, काँय जिमाड़ा रानी ओड़नी
खिचड़ी जिमाड़ा राजा ओड़ने
राजा, लापसी[4] जिमाड़ा रानी ओड़नी
जीसा[5] खोदाड़्या कूआ-बावड़ी
राजा, ससरा खँणाया[6] समन्द तलाव[7]
कूआ ने बावड़ी राजा उगली[8] र्‌या
राजा, सुकून[9] पड़्यो समन्द तलाब
तेड़ो-तेड़ो[10] ने बामण को डाबड़ो[11]

---

१. महल
२. कचहरी
३. भोजन कराएँ
४. एक प्रकार का तरल पकवान
५. रानी ओड़नी के लिए प्रयुक्त (राजस्थानी-मालवी का आदर-सूचक प्रयोग)
६. खुदवाया
७. समुद्र के समान तालाब
८. उगल रहे हैं
९. सूखा
१०. बुलाओ
११. पुत्र

अणाँ[1] सरवर को मोरत देखाड़ो
पोथी बाँचे हो बामण माथो फेरे
राजा, कहूँ तो कह्यो नी जाय
राजा, नेणाँ में आया ढलमल नीर
को तो साँची रे कई दो बामण
कहूँ ता साँची राजा, कह्यो नी जाय
राजा, बड़ा बेटा-बऊ को माँगे सरवर भोग
हूँ[2] तने पूछूँ म्हारा हंसकुंवर बेटा
सरवर माँगे तमारो भोग रे
हूँ या नी जाणू म्हारा जी सा[3]
जीसा, तमारा बालाबऊ ने जईकर पूछो
धोला घोड़ा श्रो ससराजी जीण कस्या
राजा, दन तो उगे बालाबऊ का देस
ताता[4] रे पाणी बालाबऊ मेलियो
ससराजी, होई तमारी न्हाबारी बेल
ऊना[5] ने भोजन ससराजी ठंडा हुया
ससराजी, होई तमारी जीमवारी बेल[6]
हूँ तो नी न्हऊँ म्हारी बालाबऊ,
बालाबऊ, कहूँ तो कह्यो नी जाय
हूँ नी जीमू म्हारी बालाबऊ
बालाबऊ, कहूँ तो कह्यो नी जाय

---

१. इस
२. मैं
३. यहाँ पिता के अर्थ में प्रयोग
४. गरम
५. ताजा, गरम
६. भोजन का समय

के तो सारी ओ राजा कई दीजो
ससराजी कोगा सोई कह्यो मनाँगां
काँगा[1] तो सारी ओ बालाबऊ
बालाबऊ सरवर माँगे तमारो भोग
हूँ या नी जाणूँ म्हारा ससराजी
ससराजी तमारा बेटा से जाय पूछो
आगे ससराजी पाछे बालाबऊ
राजा, दन तो उगे सासरे देस

× × ×

ससराजी तेड़ो-तेड़ो नावी रो पूत
राजा, नगरी में तेड़ो देवाड़ो
ससराजी, चरवा[2] ऊनापाणी मेलो जी
ससराजी, बालाबऊ हंसकुंवर न्हाड़िया जी[3]
ससराजी, हेड़ो[4] बगच्या[5] कापड़ा
ससराजी, बालाबउल हंसकुंवर पेरावजोजी
ससराजी, डावा[6] रो गेणो[7] मंगाड़ जो
ससराजी, बालाबऊ हंसकुंवर पेरावनोजी
ससराजी, कुंवारी केड़ी[8] को गोबर मंगाड़ जो

---

१. कहूँगा
२. हंडा
३. स्नान कराया
४. निकालो
५. सन्दूक
६. डिब्बा
७. गहने
८. गाय की बछड़ी

ससराजी, ढक[1] दई आँगणो लिपाड़ जो
ससराजी, गज-मोत्या को चोक पुरावो
ससराजी, ऊपर बाजोट्यों[2] बिछाड़ जो
ससराजी, बालाबऊ हंसकुंवर बेठाड़ जो

× × ×

आगे-आगे हंसकुंवर पाछे बालाबऊ
राजा, जेके पाछे नगरी का लोग
राजा, जई ऊबा[3] सरवर पाल
पेली पेड़ी ओ हंसकुंवर बालाबऊ पगधरया
राजा, अँगूठा पे आयो यो नीर
तीसरी पेड़ी ओ बालाबऊ हंसकुंवर पगधर्या
राजा, गोड़ा पे आयो यो नीर
चारमी पेड़ी ओ बालाबऊ हंसकुंवर पगधर्या
राजा, कम्मर पे आयो नीर
पाँचमी पेड़ी ओ बालाबऊ हंसकुंवर पगधर्या
राजा, छाती पे आयी यो नीर
छठमी पेड़ी ओ बालाबऊ हंसकुंवर पगधर्या
राजा, खाँबा[4] पे आयो यो नीर
सातमी पेड़ी ओ बालाबऊ हंसकुंवर पगधर्या
राजा, चोटी[5] पे आयो यो नीर
पीठ फेरी ने ससराजी, कँई हात जोड़ो

---

१. पोतकर
२. आसन
३. जा खड़े हुए
४. कन्धा
५. वेणी

पाछी फरी ओ ससराजी देख जो
ससराजी सरवर तमारो हिलोला यो खाय
हात सकेलो[1] म्हारी बालाबऊ
बालाबऊ, चुड़ला[2] से लागो यो नीर
खाजो पीजो ओ ससराजी, राज करजो
ससराजी जीवजो लाख करोड़।

'बालाबऊ' गीत का सृजन सम्भवतः बालोण ग्राम अथवा उसके निकट-वर्ती ग्रामों में हुआ है। सुन्दरसी ग्राम भी इसकी उत्पत्ति का क्षेत्र हो सकता है, क्योंकि वहाँ बालोण की अपेक्षा आज भी तत्काल गीत जोड़ने वाली स्त्रियों की पीढ़ी मौजूद है। बालोण का तालाब आसपास के ग्रामवासियों की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसकी मान-मनौतियाँ की जाती हैं। विश्वास प्रचलित है कि यदि बालक वाली स्त्री को दूध नहीं उतरता हो तो उक्त तालाब के जल में उस स्त्री की चोली धोकर पहनाने और उसका पानी पिलाने से दूध उतरने लगता है। बच्चे की काया भी उससे नीरोगी रहती है।

बालोण का तालाब कब बना, इस बात की जानकारी अज्ञात है, पर परम्परा से चले आते हुए विश्वास को पकड़े वह अपना महत्त्व आज तक बनाये हुए है। निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि तालाब कितना पुराना है। गीत की भाषा निश्चित ही पुरानी मालवी है। उसके कतिपय प्रयोग, शब्द-योजना तथा जी ऽऽ और रे ऽऽ की दूर तक जाती हुई हल्की धुन इस बात को प्रकट करते हैं कि उसका निर्माण तीन सौ वर्ष पूर्व के आसपास हुआ है।

---

१. समेटो
२. चूड़ा

१८

क्रम-संवृद्ध लोक-कथा

सर रिचार्ड हेम्पल ने एस० हिस्लप के लेखों का, जो मध्यभारत की आदिम जातियों के विषय में लिखे गए थे, सम्पादन करते समय (१८६६ ई०) उनमें आई एक लोक-कथा का विद्वत्तापूर्वक विश्लेषण करके भारतवर्ष में जो परम्परा आरम्भ की वह क्रमशः बढ़ती गई। फ्रेयर के 'ओल्ड डैकन डेज़' के प्रकाशन के पश्चात् इस ओर गति से कार्य किया जाने लगा। 'इण्डियन एन्टीक्वैरी' में डेमेण्ट ने निरन्तर बंगाल की लोक-कथाओं को प्रकाशित किया। लालबिहारी दे, क्रुक, केम्पबैल, नोलीज, आर० मुकर्जी, श्रीमती ड्रकौट, सी० एच० बोम्पस, एम० कुलक, शोभना देवी, पैंजर आदि विद्वानों ने भी बहुत-कुछ कार्य इस दिशा में किया है। किन्तु इन सब विद्वानों के ग्रन्थों में इस बात का प्रमुख दोष निकाला जाता है कि सभी ने उनमें संग्रहीत अधिकांश कथाओं को अपनी सुविधानुसार फेर-बदल किया। उन्हें यहाँ की भाषा का यथोचित ज्ञान न होने से और फिर उस सामग्री को अपनी भाषा में अनूदित करने के प्रयास-स्वरूप उन कथाओं में स्वाभाविकता और मूल प्रेरक-शक्ति का प्रायः अभाव हो गया है। वेरियर एल्विन, जिन्होंने अपनी पुस्तक 'फोक टेल्स ऑफ महाकौशल' में बोम्पस और मिल का आदर्श रखा है, इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनके पूर्ववर्ती लेखकों और संग्रहकारों ने ऐसी अनेक भूलें की हैं। उन्होंने एक

प्रमुख दोष यह भी बताया कि वर्तमान काल में अध्ययन और अन्वेषण की प्रवृत्ति इस कदर बढ़ती जा रही है कि डर है कहीं लोक-कथाओं के मूल में निहित आकर्षण के उपादान नष्ट न हो जायँ।

हिन्दी में लोकगीतों के तो कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं, पर लोक-कथाओं के संग्रह नाम-मात्र के लिए दो-तीन ही हैं। विशेष रूप से डॉ० सत्येन्द्र और शिवसहाय चतुर्वेदी के संग्रह क्रमशः 'ब्रज की लोक-कहानियाँ और 'बुन्देलखण्ड की लोक-कहानियाँ' या 'पाषाण नगरी' उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार के अनेक संग्रहों की आवश्यकता है, क्योंकि लोक-कथाओं का क्षेत्र बड़े सागर की तरह है।

भारतीय लोक-कथाओं का तो अपना विशेष महत्त्व है। उनकी प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध है कि उनके प्रमुख लक्षणों की पुनरावृत्ति प्रायः अन्य कथाओं में होती रहती है। वास्तव में यह एक सचाई है। पंजाब, बंगाल, बिहार, राजस्थान, महाराष्ट्र, मेवाड़ अथवा मालवा आदि स्थानों में पाई जाने वाली लोक-कथाओं में अनेक कथाएँ एक-दूसरे से वस्तु, पात्र, चित्रण और शैली में सादृश्य रखती हैं।

यह बात ध्यान देने की है कि दूर-दूर तक जातियों के फैलने, बसने और सम्पर्क स्थापित करने से कथाएँ एक स्थान पर नहीं रह सकीं। उन्होंने भी यात्राएँ कीं, सम्पर्क बढ़ाए और प्रभुत्व स्थापित किये हैं। इस प्रकार जब जातक-कथाओं, प्राचीन वेदों के आख्यान, कथा सरित्सागर, 'बैतालपंचविंशति', 'हितोपदेश' आदि ग्रन्थों में आई कहानियों के बिगड़े रूप लोक-कथाओं में मिल जाते हैं तो यह धारणा और भी पुष्ट होती है। संस्कृतियों का अन्तरावलम्बन लोक-कथाओं में स्पष्ट झलकता है। यहाँ तक कि एल्विन के कथनानुसार ये कथाएँ केवल इस देश तक ही सीमित नहीं हैं। बौद्ध मतावलम्बियों के साथ वे मध्य एवं पूर्वी एशिया तक में पहुँची हैं। अतः जिसे हम भारतीय-कथा-साहित्य कहते हैं वह वास्तव में एशियाई कथा-साहित्य—तिब्बती, मंगोली, सुदूर भारतीय और चीनी—साहित्य है।

भारतवर्ष के राज्यों में एक ही कथा अपने विभिन्न रूपों में कैसे टिकी रहती है इसका अध्ययन करना बड़ा मनोरंजक कार्य है। यह निश्चित है कि बालकों की कथाओं से लगाकर अन्य धार्मिक, सामाजिक, अनुष्ठानिक, काल्पनिक आदि सभी प्रकार की लोक-कथाएँ एक दूसरे रूप में राज्यों की सीमाएँ तोड़कर जीवित हैं। इसकी पुष्टि के लिए नीचे एक विशेष प्रकार की मालवी लघुछन्द कथा (Accumulative droll), जो काफी प्रचलित है, दी जा रही है। यह लोक-कथा मालवा में अक्सर बूढ़ी दादियों या थके-माँदे 'बा', अथवा नाना-नानी अपने बालकों को पास बैठाकर सुनाया करते हैं। मूल मालवी में कहानी इस प्रकार है :

चिड़ी-काग की वार्ता

कागला के पायो मोती ने चिड़ी के पायो चोखो।[1] चिड़ी तो खई गई चोखो ने कागला को रई ग्यो मोती। चिड़ी ने कियो, "काग काग, मोती दे।"

कागलो लीम पे चड़ी ने बेठी ग्यो। चिड़ी गई लीम का पास। "लीम-लीम, काग उड़ा।" लीम बोल्यो, "काग ने म्हारो कँई बिगाड़्यो जो उड़ऊँ?" चिड़ी रोती हुई चली गई।

(२१)

लीम काग उड़ाय नी,
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रेनी।

चिड़ी गई सुतार कने। "सुतार-सुतार, लीम काट।" "लीम ने म्हारो कई बिगाड़्यो जो लीम काटूँ?"

सुतार लीम काटे नी,
लीम काग उडाय नी,
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रेनी।

चिड़ी गई पटेल का पास। "पटेल-पटेल, सुतार के डाट।" "सुतार

1. चावल।

ने म्हारो कँईं बिगाड़यो जो उके डाटूँ ?"

पटेल सुतार के के नी....
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रेनी ।

चिड़ी गई राजा का पास । "राजा-राजा, पटेल के डाट ।" "पटेल ने म्हारो कँईं बिगाड़यो जो उके डाटूँ ?"

राजा पटेल के डाटे नी....
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रेनी ।

चिड़ी गई रानी का पास । "रानी-रानी, राजा से रूस ।" "राजा ने म्हारो कँईं बिगाड़यो जो रूसूँ ?"

रानी राजा से रूसे नी....
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रेनी ।

चिड़ी गई उंदरा[1] का पास । "उंदरा-उंदरा, रानी का कपड़ा काट ।" "रानी ने म्हारो कँईं बिगाड़यो जो हूँ कपड़ा काटूँ ?"

उंदरा कपड़ा काटे नी....
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रेनी ।

चिड़ी गई बिलई[2] का पास । "बिलई-बिलई, उंदरा के मार ।" "उंदरा ने म्हारो कँईं बिगाड़यो जो हूँ मारूँ ?"

बिलई उंदरा के मारे नी....
काग मोती दे नी,
चिड़ी रोती रेनी ।

चिड़ी गई कुतरा का पास । "कुतरा-कुतरा, बिलई के खा ।" "बिलई

१. चूहा
२. बिल्ली

ने म्हारो कँई बिगाड़यो जो खऊँ ?"

कुतरो बिलई के खाय नी....

काग मोती दे नी,

चिड़ी रोती रेनी ।

चिड़ी गई डांग[1] का पास । "डांग-डांग कुतरा के मार ।" "कुतरा ने म्हारो कँई बिगाड़यो जो उके मारूँ ?"

डांग कुतरा के मारे नी....

काग मोती दे नी,

चिड़ी रोती रेनी ।

चिड़ी गई बस्ते[2] का पास । "बस्ते-बस्ते, डांग के बाल[3] ।" "डांग ने म्हारो कँई बिगाड़यो जो बालूँ ?"

बस्ते डांग के बाले नी....

काग मोती दे नी,

चिड़ी रोती रेनी ।

चिड़ी गई समन्दर का पास । "समन्दर-समन्दर, बस्ते बुझा ।" "बस्ते ने म्हारो कँई बिगाड़यो जो बुझाऊँ ?"

समन्दर बस्ते बुझाय नी....

काग मोती दे नी,

चिड़ी रोती रेनी ।

चिड़ी गई हत्ती का पास । "हत्ती-हत्ती, समन्दर के चूस ।" "समन्दर ने म्हारो कँई बिगाड़यो जो उके चूसूँ ?"

हत्ती समन्दर चूसे नी....

काग मोती दे नी,

चिड़ी रोती रेनी ।

---

१. लाठी

२. आग

३. जला

चिड़ी गई मच्छर का पास । "मच्छर-मच्छर, हत्ती का कान में भरा ।" मच्छर बोल्यो, "म्हारे कँई, अभी कान में भरई जऊँ ।"

हत्ती के, "म्हारा कान में क्यों भराय, हूँ अभी समन्दर चूसी जऊँ ।"
समन्दर बोल्यो, म्हारे क्यों चूसे, हूँ अबी बस्ते बुझई दूँ ।"
बस्ते बोली, "म्हारे क्यों बुझाय, हूँ अबी डांग बाल दूँ ।"
डांग के, "म्हारे क्यों बाले, हूँ अबी कुतरा के मारूँ ।"
कुतरो बोल्यो, "म्हारे क्यों मारे, हूँ अबी बिलई के खई जऊँ ।"
बिलई के, "म्हारे क्यों खाय, हूँ अबी उंदरा के मारूँ ।"
उंदरो के, "म्हारे क्यों मारे, हूँ अबी रानी का कपड़ा काटी दूँ ।"
रानी बोली, "म्हारा कपड़ा क्यों काटे, हूँ अबी राजा से रूसूँ ।"
राजा के, "म्हार से क्यों रूसे, हूँ अबी पटेल को डाटूँ ।"
पटेल अरज करे, "म्हारे क्यों डाटो, हूँ अबी सुतार के कूँ ।"
सुतार के, "म्हारे क्यों डाटो, हूँ अबी लीम काट दूँ ।"
लीम बोल्यो, "म्हारे क्यों काटो, हूँ अबी काग उड़ई दूँ ।"
काग बोल्यो, "म्हारे क्यों सताय, हूँ अबी मोती दई दूँ ।"
काग ने मोती दई दियो । चिड़ी रोती रईगी ।

डॉक्टर सत्येन्द्र ने अपनी पुस्तक 'ब्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन' में इस प्रकार की कथाओं पर एक सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत किया है । उन्होंने ऐसी कहानियों को 'क्रम-संवृद्ध' कहानी कहा है । शरतचन्द्र मित्र ऐसी कहानी की परिभाषा करते हुए लिखते हैं : "Accumulative drolls or cumulative folk tales are stories in which the narrative goes on by means of short and pitty sentences, and, at every step of which all the previous steps thereof are repeated, till at last the whole series of steps thereof are recapitulated."

उक्त कहानी में एक विशेष गति-क्रम और जिज्ञासात्मक विलक्षणता निहित है । पूर्व कथित अंशों की पुनरावृत्ति बाल-सुलभ मनोवृत्ति के अनुकूल

मनोवैज्ञानिक सामीप्य का प्रयास कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। इस प्रकार की कहानी में मुख्य पात्र द्वारा किसी वस्तु की प्राप्ति का उद्योग, पशु-पक्षी, मनुष्य, जड़ अथवा चेतन पदार्थ से सहायता के लिए प्रार्थना, क्रमशः प्रार्थना की निष्फलता, प्रतिहिंसा का अनुरोध और अन्त में क्षुद्र प्राणी का तैयार हो जाना कथावस्तु के प्रमुख निर्माण-तत्त्व हैं। क्षुद्र प्राणी के तैयार हो जाते ही कहानी पीछे की ओर लौटती है। क्रम-संबृद्धता टूटती जाती है और प्रत्येक प्राणी अथवा पदार्थ अपनी हानि की आशंका से भयभीत हो मुख्य पात्र के कार्य के लिए तैयार होता जाता है। अन्त में अभीष्ट फल की प्राप्ति के साथ कथा समाप्त होती है।

यही कहानी बिहार में तोता और मुर्गी के बच्चे की कहानी, बंगाल की तुनतुनी पक्षी और नाई की कहानी, सीलोन की बटेरी की कहानी और ब्रज की कौए और दौल वाली कहानी से मिलती है। निश्चय ही अन्य प्रान्तों में भी ऐसी ही कहानियाँ प्रचलित हैं। उनमें केवल उपकरण और पात्र बदल जाते हैं, किन्तु कथावस्तु, तन्त्र और उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं आता।

क्षुद्र प्राणी की सहायता के लिए तैयार हो जाना एक ऐसा वृत्त है जो लोक-कथाओं में खूब प्रचलित है। डॉ० सत्येन्द्र इस वृत्त को बुद्ध-जातकों के आन्तरिक उद्देश्यों में निहित मानते हैं, यद्यपि इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। क्षुद्र जीव का तत्पर हो जाना अनुभवगम्य सत्य है। 'भरोसे की भैंस पाड़ा ब्याय' वाली कहावत में सन्निहित भावों में यह अनुभव भी छिपा है कि बड़ी और भरोसे की वस्तु भी कभी-कभी धोखा दे जाती है और जिसकी कल्पना न की जाय ऐसी वस्तु काम दे देती है। छोटे मुँह बड़ी बात निकल जाना असम्भव नहीं। फिर क्या मजाल है कि मच्छर-जैसा प्राणी हाथी को न डरा दे। ऐसी कहानियों में जहाँ एक ओर बाल-मनोवृत्ति की तुष्टि के उपकरण अवस्थित हैं, वहाँ बड़ी और शक्ति-सम्पन्न वस्तुओं के ठीक सामने छोटे और शक्तिहीन प्राणियों की उदारता द्वारा एक तीखा व्यंग्य भी प्रस्तुत है।

१६

लोक-नाट्य

लोक-नाट्य 'लोक'-रंजन का आडम्बरहीन साधन है जो नागरिकों के मंच से अपेक्षाकृत निम्न स्तर का, पर विशाल जन के हर्षोल्लास से सम्बन्धित है। ग्रामीण जनता में इसकी परम्परा युगों से चली आ रही है। चूँकि 'लोक' में ग्रामीण एवं नागरिक जन सम्मिलित हैं, अतः लोक-नाट्य एक मिले-जुले जन-समाज का मंच है। परिष्कृत रुचि के लोक के लिए जिन नाटकों का विधान है उसकी आधार-भूमि यही लोक-नाट्य है। परिस्थितियों के प्रभावों ने इनके विकास को ठेस पहुँचाई अवश्य है, पर वे उसकी गति को एकदम कुण्ठित न कर सके। देश की घटनाएँ इन्हें प्रभावित करती हैं, समाज की प्रचलित भावनाएँ इनमें रस का संचार करती हैं और लोक-भाषाएँ इनकी अभिव्यक्ति में चार चाँद लगा देती हैं।

भारतीय नाटकों के अध्ययन से ज्ञात होगा कि उनके विकास का बीज लोक-नाट्यों में निहित है। अपने अपरिमार्जित किन्तु जन-भावों को ठीक-ठीक वहन करने वाले अभिनेय एवं वाचिक् अभिव्यक्ति के साधन लोक-नाट्य संस्कृत नाटकों की परम्परा में अपने मूल प्रभावों-सहित प्रकट हुए। भरत के नाट्य-शास्त्र में नाटक को पंचम वेद कहा गया है जो शूद्रों के मनोरंजन के लिए भी है। शूद्र वस्तुतः साधारण जन ही हैं। नाट्य-शास्त्र में तीन प्रकार के मंचों का विधान है—विकृष्ट, चतुस्त्र और त्रयस्त्र। त्रयस्त्र

प्रकार का मंच त्रिकोणात्मक एवं साधारण जन-समाज के लिए होता था, जिसे मुख्य सड़कों या चौराहों पर बनाया जाता था। इससे जन-नाट्यों की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेद में इन्द्र और मरुत से सम्बन्धित कथोपकथन आदि में हमें नाटक के बीज मिल जाते हैं। क्रमशः संस्कृत नाटकों में परिष्कृत साहित्य के रूप में इन्हीं संग्रहीत कथोपकथनों ने नाटकों का रूप लिया। रामायण और महाभारत भी नाटक के उद्‌गम के दूसरे स्रोत हैं। 'पाठक' और 'धारक' ने रामलीला को प्रेरित किया। भाटों की परम्परा का भी इन्हीं से सम्बन्ध है। भारतीय नाट्य-कला का कालान्तर में दूर-दूर के देशों में प्रभाव पड़ा। मध्य एशिया में पाये गए कुछ तालपत्रों द्वारा कुशान-युगीन नाटकों का वहाँ पर प्रचार था, यह प्रकट होता है। रामायण ने तो बर्मा, कम्बोडिया, मलाया, स्याम आदि स्थानों को भी नाट्य-कला की प्रेरणा दी। बुद्ध-चरित्र से सम्बन्धित कथानकों का तो वहाँ सहज ही प्रभाव सम्भव था। भारतीय नाटकों का 'विदूषक' तो मध्यकालीन यूरोपीय नाटकों के 'बफून' का प्रेरक है, यद्यपि विदूषक स्वयं लोक-नाट्यों की देन है। पिशेल ने अपने ग्रन्थ 'दि होम ऑफ दि पपेट प्ले' में इस बात का उल्लेख किया है। पातंजलि ने ग्रथिकों और शोमिकों का जो वर्णन किया है उसमें ग्रथिक-अभिनय यूनानी 'डायथिरम्य' के अनुरूप प्रतीत होता है।

मुसलमानों के समय में भारतीय मंच मठों और मन्दिरों तक सीमित हो गए। धार्मिक तत्त्वों ने उन पर धार्मिक और पौराणिक कथाओं का बन्धन लाद दिया। इस प्रकार रामलीला और कृष्णलीला की ही उन्नति उन दिनों द्रुत गति से हुई। कहते हैं कृष्णलीला का आर्येतर जातियों से सम्बन्ध है। कृष्ण आर्येतर लोगों में नायक के रूप में विशेष प्रिय पात्र थे। भारतीय नाटकों में कृष्ण का प्रवेश आर्येतर जाति के प्रभाव का द्योतक है। आर्येतर जातियों का रंगमंच वस्तुतः प्रादेशिक भाषाओं से सम्बन्धित था, इसीलिए जब हम संस्कृत नाटकों में गद्य की भाषा शौरसेनी प्राकृत पाते हैं तो यह विश्वास पुष्ट हो जाता है।

संस्कृत नाटक कालान्तर में सुसंस्कृत वर्ग तक सिमट गए। जन का उनसे सम्पर्क न रहा। मुस्लिम शासकों ने उन्हें आश्रय न दिया। 'लोक' ही अपने मंच द्वारा अपना मनोरंजन करता रहा। लोक-मंचों पर जिन संस्कृत कथाओं की अवतारणा हुई उनमें बहुत-कुछ लोकग्राही परिवर्तन हो गए। दो-तीन शताब्दियों तक लोक-रंगमंच अपने रूढ़ कथानकों को प्रदर्शित करता रहा। सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में वल्लभाचार्य के प्रयत्नों से कृष्णलीला के क्षेत्र में गीत-तत्त्वों का समावेश हुआ, जिससे लोक-मंच के कला-तत्त्वों में किंचित् परिष्कार सम्भव हुआ। 'रासधारी' (गुजरात, राजस्थान) उसी शाखा की वस्तु है। कहा जाता है, स्वयं तुलसीदास ने रामनगर काशी में रामलीला-मण्डली स्थापित की थी। रामलीला-मण्डलियों का अपना विशेष ढंग है। एक ओर अभिनय होता है और पास ही मंच का वाचक-मण्डल 'मानस' को गाकर पाठ करता है। प्रिंसेप (१८वीं शताब्दी) ने काशी की रामलीला का वर्णन अपने ग्रन्थ में दिया है, जिससे हमें तत्कालीन मंच की स्थिति का ज्ञान हो जाता है। रामलीला का प्रभाव शृंगारी नहीं था, पर कृष्णलीला के द्वारा शृंगारिक भावों का बहुत-कुछ उत्कर्ष हुआ। उत्तान शृंगार अपनी उच्छृङ्खलता पर भी पहुँचा। वाजिदअली शाह 'रंगीले पिया' तो स्वयं कृष्ण बनकर वेश्याओं को गोपियाँ बनाया करते थे। उन्हें रास-मण्डलियों और नाटकों का बहुत शौक था। एक फ्रेंच व्यक्ति ने तो रासलीला को अपेरा की तर्ज पर प्रयोग करके उन्हें दिखाया था, जिसके लिए वाजिदअली शाह ने अनेक नर्तकियों की व्यवस्था की थी। लखनऊ का यह नाट्योद्योग जन-सम्पर्क से बहुत दूर था, पर जन-साधनों को उसने अपने वैभव से परिष्कृत करके अपना लिया था।

दक्षिण भारत की 'कथाकली' और बंगाल की 'जात्रा' पर कृष्णलीला का ही प्रभाव है। वैष्णव सम्प्रदाय के प्रयत्नों से इन नाट्य-शैलियों को विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारतीय लोक-नाट्यों के प्रति मध्य एवं उच्च वर्ग की उपेक्षा परिलक्षित होने लगी। गदर के पश्चात् अंग्रेजों

के प्रभाव ने स्थानीय कलाओं को पीछे डालकर पाश्चात्य प्रभुत्व के आकर्षण से सबको सम्मोहित कर लिया। इतना होने पर साधारण जन-समाज के परम्पराया मनोरंजन के साधन अपनी धीमी गति से प्रचलित रहे। संक्षेप में उन पर विचार करना यहाँ अभीष्ट होगा।

आन्ध्र : वीथी भागवतु

वीथी भागवतु तेलुगु लोकमञ्च है जिसे हम खुला मञ्च कह सकते हैं। पिछली शताब्दियों में वीथी भागवतु का खूब प्रचार रहा। जहाँ जनता में इसका प्रचार रहा वहाँ किन्हीं अंशों में शासन द्वारा सम्मान भी इसे प्राप्त हुआ। 'कूचियुडि कलाकार' मण्डलियाँ यात्रा करके अपने प्रदेश की जनता को मुग्ध किया करती थीं। गाँवों की जनता के लिए इन्हीं लोगों द्वारा निर्धारित मनोरंजन-प्रणाली आज भी विद्यमान है। मन्दिरों के खुले भाग में अथवा साधारण ऊँचाई पर मञ्च बनाकर पात्रों द्वारा अभिनय किया जाता है। समूह-गायन का इन अभिनयों में बड़ा महत्त्व है।

तोलु बोम्लाट

तोलु बोम्लाट का अर्थ है 'चमड़े के चित्रों का खेल'। ये खेल सूत्रधार द्वारा उसी तरह संचालित होते हैं, जैसे कठपुतलियों के प्रदर्शन। छोटे-से मण्डलनुमा मञ्च पर इन चमड़े के चित्रों को सूत्रधार उतारता है और पृष्ठ भाग से ही कथा-संकेत देता है। कहते हैं इण्डोनेशिया के वोयांग नाटकों में इस भारतीय लोक-मनोरंजन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। उक्त दोनों मनोरंजनों की कथा-वस्तु पौराणिक एवं रामायण या महाभारत से सम्बन्धित है। प्राचीन दक्षिण भारतीय ग्रन्थों में इन प्रकारों के अतिरिक्त अन्य कोई रूप नहीं मिलते।

महाराष्ट्र

मराठी नाटकों की पृष्ठभूमि जनता में प्रचलित ललित, गोंधल, तमाशा

और बहुरूपि आदि नाट्य-प्रकारों से सम्बन्धित है। इसमें अतिशयोक्ति न होगी कि महाराष्ट्र के ये लोक-नाट्य-प्रकार कर्नाटकीय लोक-नाट्यों से बहुत-कुछ सम्बन्धित हैं; तो भी उन्हें एकदम एक ही वस्तुएँ स्वीकार करना कठिन है।

ललित

मराठी विद्वानों में ललित की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मतभेद है। रंग-नाथ दण्डवते के अनुसार दादापन्त नामक व्यक्ति ने १९वीं शताब्दी में ललित का प्रथम बार प्रदर्शन किया, पर तुकाराम (१७वीं शताब्दी) के अभंगों में ललित का उल्लेख है तथा महाराष्ट्रीय ज्ञान-कोष के लेखक उसे अति प्राचीन मानते हैं। १७वीं शताब्दी में ललित में प्रयुक्त गद्य बहुत-कुछ हिन्दी ही था। दक्षिण भारतीय हिन्दी धारा की दृष्टि से ललित बहुत-कुछ हिन्दी नाटकों के निकट है। मध्ययुग में ललित अपनी पूर्णोन्नति पर था। इसके द्वारा दशावतार, कचदेवयानी, दामाजीवन्त आदि कथाएँ अभिनीत की जाती हैं। प्रारम्भ में नान्दी और गणपति का प्रवेश होता है। कथाओं में कथोपकथन कम और गीत तथा अभिनय का महत्त्व अधिक है। ये नाटक धार्मिक उत्सवों के अवसर पर अथवा नवरात्रि के दिनों में प्रदर्शित होते हैं।

गोंधल

गोंधल भी मराठी नाटक के आदि-रूपों में अपना स्थान रखता है। गोंधल का शाब्दिक अर्थ है गड़बड़। नृत्य एवं गान के मिश्रित प्रयोग द्वारा इनके माध्यम अम्बादेवी के प्रति सम्मान व्यक्त किया जाता है। वैसे गोंधल प्रमुख हास्य-अभिनेता को कहा जाता है। संवाद पवाड़े की धुन में चलते हैं। गोंधल और पाटलीबुआ के बीच संवाद-गान कथा को विकसित करता है। गोंधल पर धार्मिक तत्त्वों के साथ तान्त्रिक भावों का प्रभाव भी पड़ा है, क्योंकि कभी-कभी देवी का अंग में प्रवेश, अभिनेता

का घूमना और मुख से अव्यवस्थित वाक्यों का बोलना इस प्रभाव को प्रकट करता है ।

तमाशा

तमाशा वस्तुतः एक प्रकार का गीत-नाट्य है । दो-तीन पुरुषों के साथ एक नाचने वाली गायिका पद्य गाती है । पुरुषों के पास डफ, चोडक्यो या और एकाध वाद्य होता है । गायिका लावनियाँ गाती है और सजकर लोगों के सामने आती है । तमाशा का प्रभाव महाराष्ट्र में अधिक है। साधारण जनता के लिए यह खेल बिना किसी धार्मिक भाव के हृदय पर असर करने वाला मनोरंजन का साधन है, क्योंकि इसमें पौराणिकता का प्रभाव नहीं अपितु सामाजिक, ऐहिक और शृंगारपरक भावनाओं के कथा-सूत्रों और पद्य-कथनों का प्रचार है । आज भी मराठी मञ्चों पर तमाशा बड़े चाव से किया जाता है ।

भराड़ी, बहुरूपिया और चित्रकथी भी महाराष्ट्र की जनता के मनोरंजन के साधन हैं । पर उनमें सामूहिकता का अभाव और केवल गान तथा व्यक्ति का महत्त्व अधिक है । इनका प्रचार कम है ।

गुजरात : भवाई

भवाई गुजरात में अत्यन्त ही साधारण स्तर का प्रचलित लोक-नाट्य है । इसके लिए मंच की आवश्यकता नहीं होती । गाँव-गाँव में भवाई-मण्डलियाँ घूमती रहती हैं, जिनके द्वारा जीवन की साधारण घटनाओं का भवाई में प्रदर्शन किया जाता है । पुरुष गायक सम्मिलित होकर गाते हैं। प्रारम्भ में गणपति का प्रवेश होता है । अम्बा की स्तुति भी की जाती है। तत्पश्चात् कोई प्रहसनात्मक कथा प्रस्तुत की जाती है । भवाई में अश्लीलता भी सामने आ जाती है ।

बंगाल : जात्रा

बंगाल और पूर्वी बिहार में जात्रा (यात्रा) लोक-नाट्य का संगठित रूप है। 'जात्रा' का अर्थ है प्रवास या जुलूस। कृष्णोपासकों का दल पर्व-उत्सवों के अवसर पर कृष्णलीलाओं को संगीत-नाटक के माध्यम से मार्ग में प्रदर्शित करते हुए जाता है। जात्रा में क्रमशः कृष्णलीला की आड़ में शृङ्गारपरक गीत-अभिनय का प्रवेश हुआ। मन्दिरों के आंगन में ये लीलाएँ विशेष रूप से खेली जाती रहीं। निस्सन्देह लोक-वृत्तियों ने धार्मिक भावों पर हावी होकर उच्छृङ्खलता का रूप धारण किया। कहते हैं १९वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में कृष्णकमल गोस्वामी के प्रयत्नों से इसमें अनियमितता और पतनोन्मुखी स्थिति सुधरने लगी। प्रारम्भ में जात्रा का संगीत-पक्ष अव्यव-स्थित और अभिनय साधारण कोटि का हुआ करता था। कतिपय रूढ़ प्रयोगों ने कथानकों में शिथिलता ला दी थी। कृष्णकमल गोस्वामी ने इस दिशा में कला, विषय-वस्तु और बाह्य रूपों को परिष्कृत करने का प्रयत्न किया।

गम्भीरा

गम्भीरा शैव मतावलम्बियों का मंच है। प्रायः सन्ध्या के समय मुख पर आवरण पहनकर लोग शिव की आराधना में भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वांग जन-साधारण के समक्ष करते हैं। इसमें मंच की आवश्यकता नहीं होती। जमीन पर कुछ बिछा दिया जाता है और साधारण-सा परदा तानकर यह मनोरंजन किया जाता है। लोक-भावों को जाग्रत करने का यह उत्तम माध्यम है। अभिनेता नृत्य करते हैं और सम्मिलित रूप से ऊँची आवाज में गाते हैं। अभिनय में गम्भीरता का सर्वथा अभाव रहता है। अभिनेताओं को समक्ष बैठे हुए लोगों से बीच-बीच में बात करने या अपनी सुविधा के लिए परदे के पीछे जाने-आने की स्वतन्त्रता रहती है।

राजस्थान : कठपुतली

कठपुतली के खेल करने वाले राजस्थान में घूमते फिरते हैं। प्रायः चारपाई

खड़ी करके आगे के भाग में रंगीन वस्त्र से बना परदा टाँग दिया जाता है, जिसके आगे सूत्रधार पुतलियाँ उतारकर राजपूती वीरता को प्रगट करने वाले मुगल-दरबार से सम्बन्धित किसी घटना को संचालित करता है। एक व्यक्ति ढोलक पर कथा का वर्णन करता है। पुतलियों का रंग चमकीला और पात्रों के अनुरूप होता है, जिनसे व्यक्तित्व का पूर्णाभास होता है।

ख्याल

ख्याल राजस्थान लोक-मंच का प्रमुख रूप है। ख्याल के लिए साधारण मंच बनाया जाता है, जिस पर पौराणिक तथा धार्मिक कथाओं के अतिरिक्त जनश्रुति पर अथवा ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बन्धित कथाओं को अभिनीत किया जाता है। गाँवों में ख्याल का प्रचार अधिक है। स्त्री पात्रों का अभिनय पुरुष ही करते हैं। संगीत ख्याल का प्राण है, अतः ख्याल गीत-नाट्य की श्रेणी में आते हैं।

ब्रज : रास

ब्रज का रास साधारण जनता का आडम्बरहीन और सरल मंच है। राधा-कृष्ण के लिए मंच पर आसन होते हैं। गोपिकाओं और रास-मण्डलियों के लिए भी स्थान होता है। भागवत, वैष्णव-सम्प्रदाय के कृष्ण-भक्त कवियों, जयदेव के पदों और अन्य मध्यकालीन साहित्य-सामग्री ने कृष्णोपासना के इस नाट्य-प्रकार को उत्कर्ष प्रदान किया। इसका मुख्य विषय कृष्णलीला प्रदर्शित करना है। नृत्य और गीत-वाद्यों का प्राधान्य तथा कथोपकथन की न्यूनता इनमें देखी जाती है।

रामलीला

रामलीला का आधार राम-काव्य है, पर लोक-नाट्य के रूप में यह उत्तम भारतीय परम्परा आज समस्त भारतवर्ष में विद्यमान है। रामलीला का प्रचार गाँवों में आज भी खूब है। दशहरे के अवसर पर यह परम्परा हमें सजीव भासित होती है।

नौटंकी

नौटंकी और ख्याल में बहुत समानता है। सम्भवतः नौटंकी बहुत बाद की वस्तु है और रीतिकालीन जनता के मनोरंजनार्थ श्रृंगारपरक कथाओं को अभिनीत करने के लिए इसका प्रचार हुआ।

मालवा : मांच

'मांच' मंच शब्द का मालवी तद्भव रूप है। मालवी में यह शब्द मंच बाँधने और उस पर अभिनीत किये जाने वाले ख्यालों (खेलों) के अर्थ में प्रयुक्त होता है। मांच प्रायः ग्राम अथवा नगर के खुले स्थान में ऊँची भूमि पर अथवा तख्त बिछाकर या बाँधकर बनाये हुए मंच पर खेले जाते हैं। इनके खेलों के लिए नैपथ्य अथवा रंगमंचीय आडम्बरों की आवश्यकता नहीं होती। अभिनेता मंच के निकट किसी स्थान से अपने वस्त्र बदलकर अभिनय के हेतु मंच पर आ जाते हैं, जिनमें स्त्रियों का अभिनय भी पुरुष ही करते हैं। मंच की व्यवस्था इस प्रकार की जाती है कि दर्शकगण कहीं से भी बैठकर देख सकते हैं। वस्त्राभूषण अथवा अभिनय का महत्त्व इन मांचों में गौण विषय है। प्रधान वस्तु संगीत है। उसमें भी ऊँची आवाज में भावाभिव्यक्ति के लिए गाए जाने वाले 'बोल' अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। श्रोतागण 'बोलों' अथवा पात्रों के संवादों के कौशल पर 'कँई की है' कहकर झूम उठते हैं। 'बोल' की लयकारी का साथ ढोलक करती है। एक विशेष आवेग के साथ ढोलकिया टेक पर थाप मारकर भावों के महत्त्वपूर्ण अंश को उत्कर्ष प्रदान करता है। गाने वाला ठीक इस समय 'ढोलक तान फड़क्के के' ध्वनि का उच्चारण करता है। अतएव मांच 'लोक-गीति-नाट्य' है। लोक-गीति-नाट्य के लिए जिन गुणों का होना आवश्यक है वे सभी मांच में निहित हैं। लोकगीतों की हृदयस्पर्शी शब्द-योजना, गीति-तत्त्व और नाट्य का लोकरंजनकारी स्वरूप तीनों का समावेश इन मांचों में है। संगीत के विशेष टेकनीक को व्यक्त करने के लिए इन मांचों में छोटी रंगत, रंगत इकहरी, रंगत दोहरी, रंगत झेला की, रंगत दादरा आदि शब्दों द्वारा ज्ञात कराए

जाते हैं। मांच मध्यरात्रि से आरम्भ होकर सूरज की प्रथम किरण के साथ समाप्त होते हैं। प्रकाश के लिए पहले मशालें अथवा कन्दिलों का उपयोग किया जाता था, किन्तु आजकल गाँव में गेस बत्ती या शहर में बिजली का प्रयोग साधारण बात हो गई है। हारमोनियम भी ढोलक का साथ करने लगा है, जिससे कभी-कभी धम्मन फूट जाना स्वाभाविक विषय है। मालवा में गुरु बालमुकुन्द और कालूराम उस्ताद के मांच प्रख्यात हैं।

लोक-नाट्यों की विशेषताएँ

उपरोक्त वर्णित लोक-नाट्यों के अध्ययन से हम भारतीय लोक-नाट्यों की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डाल सकते हैं।

१. समूहगत अभिनय—इन समस्त नाट्यों में व्यक्ति का महत्त्व नगण्य है। समूह, जाति अथवा समाज की भावनाएँ मण्डलियों के संयुक्त अभिनय द्वारा व्यक्त होती हैं। अभिव्यक्ति का माध्यम भावावेग से सम्बन्धित होने के कारण पद्यमय अधिक और गद्यमय कम होता है। गद्य भी सरल और स्थानीय रंगों से पूरित होता है। पद्य में साधारण बातों का उल्लेख एवं लोकगीतों की बँधी-बधाई रूढ़ शैली का प्रवाह होता है।

२. आडम्बरहीन रंग-मंच—मंच साधारण कोटि के होते हैं। ऊँची भूमि, तख्त या मन्दिरों अथवा चौपालों में ये नाटक खेले जाते हैं। ऊपर से ये खुले होते हैं। परदे का उपयोग कम-से-कम होता है। दृश्य केवल पद्यमय कथन से ही समझा जाता है। दर्शक इन आडम्बरों की ओर ध्यान न देकर कथा एवं पात्रों के कथोपकथन में ध्यान रखते हैं। ऐसे मंचों पर अभिनेताओं को अनेक प्रकार की सामाजिक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त होती हैं, जो न तो दर्शक को अखरती हैं और न नाटक-मण्डलियों में कभी आलोचना का विषय बनती हैं।

३. कथाओं का विकृत रूप—जिन पौराणिक, ऐतिहासिक या धार्मिक कथाओं का प्रयोग इन नाटकों में होता है उनमें स्थानीय प्रकरण सहज ही उद्भूत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में कथा-प्रसंग विकृत हो जाते हैं, पर

दर्शक उनकी ओर ध्यान नहीं देते। इस विकृति में दोनों ही पक्षों का मनोरंजन निहित होता है।

४. पात्र—लोक-नाटकों के पात्रों में स्थानीय वैशिष्ट्य होता है। प्रत्येक पात्र किसी सामाजिक प्रवृत्ति-विशेष का प्रतिनिधित्व करता है। कला की सूक्ष्मताओं के अतिरिक्त उनमें एक प्रगाढ़ व्यक्तित्व होता है जो उनकी स्थूल विशेषताओं के कारण प्रकट होता है।

५. कथा-प्रवाह—कथानक में गति होती है। यद्यपि प्रारम्भ शिथिल होता है, पर मध्य में द्रुत गति लोक-भावनाओं के अनुरूप चलती है। चमत्कारिक अभिनय और अस्वाभाविक कथनों से नाटकों के प्रति जनाकर्षण अधिक होता है। जन से सम्बन्धित रीति-रिवाजों, प्रथाओं, मान्यताओं और विश्वासों का बोलबाला सभी तरह के कथानकों में होता है। भाषा के स्वाभाविक गुणों का समावेश इन नाटकों के गद्य और पद्य दोनों अंशों में हो जाता है।

२०

लोकोक्ति-साहित्य

डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं—"लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के चोखे और चुभते हुए सूत्र हैं। अनन्त काल तक धातुओं को तपाकर सूर्य-राशि नाना प्रकार के रत्न-उपरत्नों का निर्माण करती है, जिनका आलोक सदा छिटकता रहता है। उसी प्रकार लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के घनीभूत रत्न हैं, जिन्हें बुद्धि और अनुभव की किरणों से फूटने वाली ज्योति प्राप्त होती है।"

'गागर में सागर' भर देने का गुण लोकोक्तियों में विद्यमान है। व्यापक समस्याएँ, अनुभव-गाम्भीर्य और जटिल प्रश्न छोटे से नुकीले और चटपटे वाक्यों में सिमटकर सदा से प्रचलित होते रहे हैं। लोक-साहित्य में लोकोक्ति-साहित्य का बड़ा महत्त्व है। जीवन के विस्तृत प्रांगण में भिन्न-भिन्न अनुभव सर्वसाधारण-जन के मानस को प्रभावित करके उसके अभिव्यक्ति से सम्बन्धित अंग को उत्कर्ष प्रदान करते हैं। ये ही अनुभव लोकोक्तियाँ—कहावतें—हैं।

अनुभवों के पृष्ठ में जीवन के घटना-व्यापार कार्य करते हैं। कहावतों अथवा लोकोक्तियों में घटनाएँ झलकती हैं। ऐसी अनेक कहावतें हैं जिनकी पृष्ठभूमि पूर्णरूपेण घटनापरक है। गढ़वाली में 'पखाणो' या 'अखाणो' शब्द कहावतों के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इनसे स्पष्ट हो जाता है कि 'पखाणो' (पाख्यान) उपाख्यान से और 'अखाणो' आख्यान से सम्बन्धित हैं।

कहावतों की व्यक्तित्व से प्रभावी सत्ता नहीं होती। कहावत वस्तुतः उक्ति है, पर 'लोक' से सम्बन्धित होने के कारण वह लोकोक्ति कही जाती है। उसका प्रचार जन के स्वीकार्य पर निर्भर है। लोगों के अनुभव का सादृश्य उसे महत्ता प्रदान करने में जब तक योग नहीं देता तब तक कहावत लोकोक्ति नहीं कही जा सकती। अनुभव जब सर्वजनीन हो जाता है, सबकी बुद्धि और मन को प्रभावित करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है तभी कहावत के रूप में उसका जन्म होता है।

कहावतें अपनी प्राचीनता के लिए लोक-साहित्य के अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हर समय में, सभ्य किंवा असभ्य, सभी प्रकार के लोगों में कहावतों का प्रयोग देखा जाता है। जीवन के स्वभाव से उनका निकटतम सम्बन्ध है। उत्साह और जिन्दादिली कहावत अथवा लोकोक्ति के जनन में सहायक होते हैं। जिस तरह नमक के बिना भोजन रसहीन प्रतीत होता है वैसे ही भाषा और बोलियों के क्षेत्र में बिना कहावतों के प्रभावी तत्त्व नष्ट हो जाता है।

कहावतों की कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

१. तत्त्वज्ञान के खण्डहरों में से चुनकर निकाले हुए टुकड़े—बचा लिये गए अंश। **—अरस्तु**

२. जीवन में व्यवहृत प्राचीन काल के छोटे-छोटे कथन। **—एग्रीफोला**

३. जनता में निरन्तर व्यवहृत होने वाले लघु-कथन। **—जानसन**

४. व्यावहारिक जीवन में मार्ग-दर्शक वचन। **—फीस्ते**

५. वे कथन जो अनाम हैं, जिनके निर्माता का पता नहीं। **—ट्रैंच**

६. दीर्घकालीन चतुराई से चुने हुए छोटे-छोटे कथन। **—सर्वेण्टीज।**

७. सर्वथा जनता की अपनी भाषा में किसी सर्वमान्य सत्य को थोड़े

शब्दों में प्रकट करने वाला लोक-प्रचलित कथन। —बोर कार्ट

८. अनेकों का चातुर्य और एक की बुद्धि का चमत्कार—एक की सूझ जिसमें अनेकों का चातुर्य सन्निहित है। (दि विज़डम आफ मेनी एण्ड दि विट आफ वन) —रसेल[१]

विशेषताएँ

लाघवत्व : लोकोक्ति अपने लाघवत्व के कारण सबके मुँह पर रहती है। बड़े वाक्यों को स्मरण करना कठिन होता है। अनुभवों का विस्तार लाघवत्व गुण के कारण हृदय पर एकदम असर करता है। सम्पूर्ण प्रभाव एकमुख होकर छोटे से वाक्य अथवा वाक्यांश में इस तरह व्यक्त होता है कि लम्बे-चौड़े तर्क और विस्तृत वर्णन वहाँ बेकार हो जाते हैं। लोकोक्ति का लाघवत्व ही उसे सूत्र रूप प्रदान करता है।

अनुभूति और निरीक्षण : अनुभूति और निरीक्षण का जीवन में विशेष स्थान है। सर्वजनीन अनुभूति और निरीक्षण सामान्य सिद्धान्तों को जन्म देते हैं। कहावतों में हमें इस भूमि पर आधारित निश्चित सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं।

सरल भाषा, प्रभावोत्पादक शैली और लोकरंजन भी कहावतों की विशेषताएँ हैं। हावेल ने कहावतों की तीन विशेषताएँ बताई हैं—'शार्टनेस, सेन्स एण्ड साल्ट' (लाघवत्व, अर्थ और चटपटपन)। ये ही प्रधान गुण हैं जो लोकोक्तियों में विद्यमान हैं।

लोकोक्तियों के रचयिताओं के नाम नहीं मिलते। घाघ और भड्डुरी की कहावतें इसलिए पहचान ली जाती हैं कि उनमें रचयिता के नाम जुड़े हैं। किन्तु असंख्य कहावतें या लोकोक्तियाँ नाम की छाप से शून्य हैं।

लोकोक्ति-साहित्य नीति-साहित्य का भाग है। मिश्र, बेबिलन, भारत, आदि देशों के प्राचीन ग्रन्थों में इस नीति-साहित्य की पर्याप्त सामग्री उप-

१. देखिए, राजस्थानी की जाति-सम्बन्धी कहावतें, (राजस्थान), सं० १६६२

लब्ध है। बाइबल का 'प्रोवर्ब' नामक अध्याय, पंचतत्र की कथाएँ, उपनिषद्-युग के पश्चात् बौद्ध-साहित्य तथा प्राकृत एवं संस्कृत-ग्रन्थों में नीतिपरक अथवा बुद्धि-परायण साहित्य की बहुत सामग्री पाई जाती है। भारतीय भाषाओं में प्राचीन ग्रन्थों की यह परम्परा आज तक सजीव एवं गत्यात्मक बनी है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। कालान्तर में हजारों नई कहावतें प्रान्तीय भाषाओं में प्रचलित हो गईं। वस्तुतः आज की असंख्य कहावतें संस्कृत, प्राकृत और पाली के नीति-साहित्य की उत्तराधिकारिणी हैं। 'काकतालीय, अजाकृपाणीय, अरण्यरोदन, अन्धदर्पण, आदि सैकड़ों न्यायों के रूप में संस्कृत की चुस्त कहावतें पाई जाती हैं। लौकिक न्याया-ञ्जलि ग्रन्थ के तीन भागों में जैकब नामक विद्वान् ने अपने पचास वर्षों के अध्ययन के फलस्वरूप इन प्राचीन न्यायों पर बहुत ही सुन्दर सामग्री का संकलन किया था। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से संस्कृत और प्राकृत लोकोक्तियों का काल-क्रमानुसार संकलन और सम्पादन होना अभी बाकी है। हिन्दी एवं अन्य प्रान्तीय भाषाओं में प्राचीन न्याय और लोकोक्तियों का उत्तराधि-कार बहुत अंशों में यथावत् चला आया है। राजशेखर का 'हत्थकंकण किं दप्पणेण पेक्खीआदि'[1] हिन्दी में 'हाथ कंगन को आरसी क्या', इस सुन्दर और चुस्त रूप में जीवित है। इस प्रकार और भी न जाने कितना लोक-साहित्य प्राचीन काल की विचार-पटुता को लिये हुए अर्वाचीन कहावतों में घुल-मिलकर बचा हुआ है।[2] आज हम बड़ी सरलता से कह देते हैं 'अकल बड़ी कि भैंस'; अर्थात् हम अपरोक्ष में बुद्धि की महत्ता सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। चाणक्य ने एक श्लोक में कहा है कि बुद्धि असंख्य सेनाओं से बढ़कर है। चाणक्य के सूत्र तो अधिकांश लोकोक्तियाँ ही प्रतीत होते हैं। 'न क्षुधार्तोऽपि सिंहस्तृणंचरति' (सिंह भूखा होकर भी घास नहीं खाता), 'आयसैरायसं छेद्यम्' (लोहा लोहे को काटता है), 'श्वो मयूरादद्य कपोतो वरः' (कल के मोर से आज का कबूतर भला), आदि

१. कर्पूर मंजरी, १।१८

२. 'पृथिवी-पुत्र', ११४

लोकोक्तियाँ ही हैं।

समग्र रूप से कहावतों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि कल्पना और व्यर्थ का आडम्बर उनमें नहीं है। वे यथार्थ की भूमि पर जीवन के लिए नीति-वाक्यों की भाँति प्रचलित हैं। अन्योक्ति के रूप में कहावतें कई बार घटित होती हैं।

मोटे रूप में कहावतों का निम्नानुसार वर्गीकरण किया जा सकता है—

१. विषयानुसार, २. स्थानानुसार, ३. भाषानुसार, ४. जातीयानुसार।

भारतीय भाषाओं की कहावतों का उक्त चारों प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है। स्थानीय बोलियों और भाषाओं में अपार सामग्री उपलब्ध है। घाघ और भड्डुरी के नाम से पाई जाने वाली कहावतें उक्त वर्गीकरण में सम्मिलित की जा सकती हैं, अथवा उन्हें रचयिताओं के नाम से अलग भी रखा जा सकता है। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने परिश्रम करके 'ग्राम साहित्य,' भाग ३, में घाघ, भड्डुरी, लालबुझक्कड़, माधोदास, हृदयराम आदि व्यक्तियों द्वारा निर्मित कहावतें संग्रहीत की हैं।

अकबर के समय में घाघ द्वारा कितनी ही कहावतें प्रचलित की गई थीं। कन्नौज के पास उनके नाम का एक गाँव भी पहले था। परन्तु अब गाँव का नाम तो बदल गया, तो भी उनके वंशज उसमें जीवित हैं। लोगों का कहना है कि घाघ से उसकी पतोहू की सदा ही होड़ रहा करती थी। घाघ जो कहते पतोहू उससे उलटा कहती। घाघ की कहावतें किसानों को प्रचुर मात्रा में याद हैं। उनकी कहावतों में नीति की बातें इतनी सचाई से व्यक्त हुई हैं कि कोई भूले नहीं भूल सकता—

आलस नींद किसानै नासै, चोरै नासै खाँसी।
अँखियाँ लीबर बेसवै नासै, बाबै नासै दासी॥

× × ×

सावन घोड़ी, भादों गाय, माघ मास जो भैंस बिआय।
कहै घाघ यह साँची बात, आपै मरै कि मालिक खाय॥

भड्डुरी के जन्म के सम्बन्ध में कितनी ही विचित्र बातें पाई जाती हैं।

परन्तु वे कब हुए, कहाँ हुए इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण प्राप्त नहीं। गोरखपुर जिले के आसपास भड्डरी नामकी एक जाति पाई जाती है जो वर्षा के सम्बन्ध में भड्डरी की कहावतों के आधार पर भविष्य आदि बताया करती है। राजस्थान में भड्डली नाम की एक स्त्री की कहावतें भी प्रचलित हैं। भड्डरी और भड्डली की अधिकांश कहावतें इस नाम के झगड़े में मिल-सी गई हैं।

भाषा की सम्बलता अथवा उसकी रसात्मकता में कहावतें बड़ा सहयोग देती हैं। स्व० प्रेमचन्दजी की लेखनी ने जो भाषा कहावतों को यत्र-तत्र प्रयुक्त करके हिन्दी को प्रदान की है वह पढ़ी जाने पर एक प्रकार का मधुर रस वर्षण करती है। बाबू जयशंकर प्रसाद ने भी कहीं-कहीं कहावतों को स्थान दिया है। 'उसने कहा था' के लेखक चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जी ने जो भी लिखा है, कहावतों को प्रयुक्त करके उसमें जान डाल दी है। लोकोक्ति नामक एक अलंकार भी साहित्य में विद्यमान है जो इस बात का सबूत है कि लोकोक्तियाँ भाषा में अलंकार का काम करती हैं। ये वास्तव में 'सोने में सुहागा' वाली कहावत को चरितार्थ करती हैं। आज हमारा दृष्टि-कोण बिलकुल बदल गया है। जिस प्रकार कविता में रसात्मकता लाने के लिए प्रादेशिक शब्दों का पुट दिया जाता है, उसी प्रकार प्रादेशिक मुहावरों और कहावतों का प्रयोग भाषा में जान डाल देता है। दुनिया नवीनता के पीछे दौड़ती है। नवीनता आखिर क्या है? अनुभव तो दुनिया सदियों से करती आ रही है। वही पुराने अनुभव और वही हमारे स्थायी भाव जब नवीन शैली या नवीन ढंग से व्यक्त होते हैं तो हमें नवीनता का अनुभव होता है। सत्य तो चिरस्थायी है। उसको प्रकट करने में नवीनता चाहिए।

सत्य स्पष्ट है। फिर कहावतें पूर्ण सत्य तो कही नहीं जा सकतीं। यथार्थ जो है, वह असली रूप में कहावतों में बन्द नहीं। उसका संकेत-भर कहावतें प्रस्तुत करती हैं। एक स्थान-विशेष का सत्य दूसरे स्थान-विशेष का पूर्ण सत्य नहीं होगा। अपने स्थान की सीमा और तत्कालीन प्रभाव उसमें होगा।

कहावतों में अपने देश-काल की विशेषताएँ विद्यमान होती हैं। कम-से-कम उनके द्वारा उसके उद्गम-स्थान और तत्कालीन परिस्थिति का अटकल तो लगाया ही जा सकता है।

घोड़ा की खोड़ गदेड़ो, उदेपुर की खोड़ बनेड़ो

× × ×

देख्यो राणाजी थांरों देश, रांड सुहागन एक ही भेष

× × ×

मक्की मे मुलक्यां करे, कुल थां ऊपर राड़
फूल्या पे फुदक्यां करे, धन माता मेवाड़

ये कहावतें मेवाड़ की उपज हैं या **'नो पेता तेरा लगवाल, छोड़ती ने लेगो कोतवाल'** जैसी कहावत राजस्थान की है, यह सरलता से जाना जा सकता है।

हर प्रान्त का अपनापन उसकी कहावतों में मिलेगा। यों अनुभवरूपी सागर से सभी ने रत्न ढूँढ़कर सुरक्षित रखे हैं। कहावतें अनुभव की निचोड़ हैं। अनुभव सर्वकालीन और सार्वदेशिक है, अतः उसके आधार पर निर्मित कहावतें अलग-अलग राज्यों में विभिन्न शब्दों में बँधी हुई मिलती हैं। आपने सुना होगा—

अन्धा बाँटे रेवड़ी अपने-अपने को दे

यह लोकोक्ति मेवाड़ी में इस प्रकार है—

आन्धो बाँटे सीरनी, फर-फर घर का ने देव।

इसी तरह मेवाड़ी में—

कवि चनारी, पारधी, नृप, वेश्या अर भट्ट,
यां से कपट न कीजिए यांरा रख्यां कपट।

साधारण रूप में—

कवि, चितेरे, पारदी, मंगल गाती नार,
इन चारों को जानिये, सभी नर्क के द्वार।

राजस्थानी में कहावत है—

भूख कै लगावण कोनी नींद के बिधावण कोनी है।

इसी को दूसरे स्थान पर बढ़ाकर कहा गया है—

प्रीत न जाने जात कुजात, भूख न जाने बासी भात,

नींद न जाने टूटी खाट, प्यास न जाने धोबी घाट।

कहावतें जब संक्रान्ति-काल से गुजरती हैं तब उनके रूप का विकृत हो जाना सम्भव है। परिस्थितियाँ जब बदलती हैं तो कितनी ही कहावतें केवल ऐतिहासिक महत्त्व की बन जाती हैं। उस समय यदि वे लिपिबद्ध नहीं की जातीं तो निश्चय ही नष्ट हो जाती हैं, क्योंकि समय का प्रभाव उन पर विशेष तौर से पड़ता है।

इस दिशा में प्रयत्न बहुत कम हुए हैं। फेलन ने हिन्दी कहावतों पर 'फेलनस् डिक्शनरी ऑफ़ हिन्दुस्तानी प्रोवर्ब्स' (१८८६) नामक ग्रन्थ में मारवाड़ी, पंजाबी, भोजपुरी और तिरहुती कहावतों पर प्रकाश डाला है। काश्मीरी की लोकोक्तियों पर जे० एच० नीवल्स का काम उल्लेखनीय है। पंजाबी, मराठी, बंगला, उड़िया आदि भाषाओं में महत्त्व-पूर्ण संग्रह तैयार किये गए हैं। मेरठ क्षेत्र के मुहावरों पर लगभग १७ वर्ष पूर्व रामराजेन्द्रसिंह वर्मा ने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में विस्तारपूर्वक (संकलित सामग्री सहित) एक निबन्ध प्रकाशित किया था। उसी प्रकार उन्हीं दिनों डॉक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की भूमिका सहित गढ़वाली भाषा की कहावतें श्री शालिग्राम वैष्णव के प्रयत्नों से पत्रिका (संवत् १९९४) में प्रकाशित हुईं। गुजराती में 'गुजराती कहेवत-संग्रह' (दलीचन्द शाह), मालवी में 'मालवी कहावतें' (रतनलाल मेहता), मेवाड़ी में 'मेवाड़ी कहावतें' आदि उपयोगी संग्रह उपलब्ध हैं।

२१

प्रहेलिका-साहित्य

प्रहेलिका (पहेली) बुझौवल, पारसी (मालवी), प्याली (मा०) या उखाणा भी कहलाती हैं। संस्कृत में पहेली को 'ब्रह्मोदय' कहते हैं। डॉ० सत्येन्द्र ने पहेली-साहित्य को लोकोक्ति-साहित्य का ही एक अंग माना है, क्योंकि लोकोक्तियों में शब्द-संकोच द्वारा अर्थ-विस्तार का जो तत्त्व निहित है, वह पहेली में विद्यमान है। पहेली द्वारा वस्तु के सम्बन्ध में कतिपय विशेषताओं सहित संकेत-भर रहता है। रूप-रंग, गुण और आकार-प्रकार भी सांकेतिक रूप में व्यक्त किये जाते हैं। उन्हें ही आधार मानकर उत्तर निकाले जाते हैं। गाँवों में अवकाश के क्षणों में पहेलियाँ बालकों, बूढ़ों और नौजवानों सभी के लिए मनोरंजन का उत्कृष्ट साधन हैं। स्त्रियाँ भी उन्हें अपना अस्त्र समझती हैं। ससुराल में जामात्रा की परीक्षा लेने के लिए स्त्रियाँ पहेलियों की झड़ी लगा देती हैं। स्मृति पर विश्वास रखने वाले, अनुभवी और बुद्धिमान भी कभी-कभी इनके कौतूहल-मिश्रित अर्थ-गौरव के सामने सिर झुका देते हैं। इसीलिए श्री रामनरेश त्रिपाठी ने पहेलियों को 'बुद्धि पर शान बढ़ाने का यन्त्र' या 'स्मरण-शक्ति और वस्तु-ज्ञान बढ़ाने की कलें' कहा है। आपका तो विश्वास है कि ऋग्वेद में पाई जाने वाली पहेलियों के ज्ञान से उसे 'पहेलियों का वेद' कहा जाय तो ठीक है।

ऋग्वेद का एक मन्त्र यहाँ टीकासहित उद्धृत करना उचित होगा—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा,
द्वे शीर्षे सप्तहस्ता सो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवाति
महादेवो मर्त्यां आविवेश।

(जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं, जो तीन जगहों से बँधा हुआ है, वह मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ वृषभ शब्द करता हुआ महादेव है।)

"साधारण अर्थ यही है, पर गूढ़ार्थ यह है कि वह वृषभ यज्ञ है जिसके चार सींग चारों वेद हैं, प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल तीन पैर हैं, उदय और अस्त दो सिर हैं, सात प्रकार के छन्द सात हाथ हैं, वह मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प रूपी तीन बन्धनों से बँधा हुआ मनुष्य में प्रविष्ट है।

"महाभाष्यकार पातञ्जलि ने प्रारम्भ ही में लिखा है कि वह शब्द है। चार सींग चार प्रकार के शब्द (नाम, आख्या, उपसर्ग और निपात), तीन पैर भूत, भविष्य और वर्तमान, तीन काल, दो सिर, दो प्रकार की नित्य और कार्य-भाषाएँ, सात हाथ सात विभक्तियाँ, हृदय, गला और मुख बाँधने के स्थान।

"दूसरों के मत से वह सूर्य है। चार सींग चारों दिशाएँ, तीन पैर तीन वेद, दो सिर रात और दिन, सात हाथ सात किरणें, बाँधने के तीन स्थान पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक।"[१]

ऊपर दिया गया मन्त्र निश्चय ही पहेली है जो साधारण जन-बुद्धि से उच्च स्तर की है। वैदिक युग में ब्रह्मोदय अनुष्ठानिक क्रिया का अंग समझा जाता था। अन्य देशों में भी पहेलियों को अनुष्ठानिक महत्ता प्राप्त थी। ऋग्वेद में प्रयुक्त ब्रह्मोदयों से ज्ञात होता है कि पहेलियाँ जन की विकासोन्मुख अवस्था के साथ ही क्रमशः विकसित हुईं। पूर्व वैदिक काल के मौखिक साहित्य ने वेदों के निर्माताओं को अपनी महत्ता से आकर्षित किया, इसीलिए आज जब हम लोक में प्रचलित इस बुद्धिपरक साहित्य के विस्तार का अध्ययन

१. देखिए, 'ग्राम साहित्य' भाग २, पृष्ठ २८८

करते हैं तो कुतूहल होता है। आदिवासी जातियाँ भी पहेलियों का प्रयोग करती हैं। वैवाहिक अवसरों पर पहेलियों द्वारा परिजनों की बुद्धि-परीक्षा समान रूप से सभी प्रकार की जातियों में विद्यमान है। किन्हीं अंशों में आर्येतर जातियों में भी इसका प्रचलन था। कालान्तर की आर्येतर जातियों में यह प्रथा उसी तरह विद्यमान थी जिस तरह आर्य जातियों में है।

"पहेली लोकोक्ति है," डॉ० सत्येन्द्र का तर्क है। "लोकोक्ति केवल कहावत ही नहीं है, प्रत्येक प्रकार की उक्ति लोकोक्ति है, इसलिए पहेली लोकोक्ति है। लोकमानस इसके द्वारा अर्थ-गौरव की रक्षा करता है और मनोरंजन प्राप्त करता है। यह बुद्धि-परीक्षा का साधन है। भाव से इसका सम्बन्ध नहीं होता, प्रकृत को गोप्य करने की चेष्टा रहती है, बुद्धि कौशल पर निर्भर करती है।"[१]

ब्रज में प्राप्त पहेलियों के आधार पर सत्येन्द्र जी ने उन्हें सात वर्गों में विभक्त किया है—

१. खेती सम्बन्धी
२. भोज सम्बन्धी
३. घरेलू वस्तु सम्बन्धी
४. प्राणी सम्बन्धी
५. प्रकृति सम्बन्धी
६. अंग-प्रत्यंग सम्बन्धी
७. अन्य

उक्त वर्गों के अन्तर्गत वस्तुओं की सूची में प्रायः वे सभी चीजें आ जाती हैं जिनका जीवन से रोजमर्रा का सम्बन्ध है। साधारण-से-साधारण वस्तु भी पहेली की पकड़ से बची नहीं है। नित्य ही पहेलियों का निर्माण होता है। गाँव के बुद्धि-कौशल की यह साधना रुकने वाली वस्तु नहीं है। "गाँव वालों को न सूर मिले, न तुलसी, न कबीर, न केशव; उन्होंने युगों से चली आती हुई ज्ञान की इस घुमावदार सलोनी नदी को अभी तक सूखने

---

१. 'ब्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन', पृष्ठ ५२०

नहीं दिया। ऋग्वेद का यह देवता देहाती रूप में आज भी हमारे सामने है। सभ्य और शिक्षित समाज के लिए ग्रामीणों के पास यह अनमोल निधि संचित है।"[1]

पहेलियों का निर्माण करने वाली बुद्धि अपने ढंग की अलग ही वस्तु है। परम्परा-प्रचलित लोक-साहित्य के आत्मीय वातावरण में उसका विकास होता है। उसके लिए दृष्टि का पैनापन और उक्ति-वैचित्र्य तथा विनोद की भावनाएँ आवश्यक हैं। पहेली वैसे तो वस्तु का वर्णन होती है, पर उपमानों के सहारे उसे प्रस्तुत किया जाता है। अस्पष्ट संकेत देकर सामने वाले से वस्तु का नाम पूछना वस्तुतः बुद्धि-परीक्षा के समान ही व्यापार है।

साहित्य में प्रहेलिका अलंकार का एक भेद है। अर्थ-चमत्कार से सम्बन्धित यह साहित्य अभी अध्ययन के अभाव में एक ओर बिखरा पड़ा है। हिन्दी मराठी या अन्य भाषाओं में फुटकर रूप से यहाँ-वहाँ कुछ पहेली-साहित्य मिल जाता है। हिन्दी में 'ग्राम-साहित्य' (भाग ३) में त्रिपाठीजी ने कुछ पहेलियाँ दी हैं, पर स्वतन्त्र रूप से कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं है।

भारतीय भाषाओं में प्रहेलिका-साहित्य का संकलन और अध्ययन लोक-साहित्य के एक अंग को पुष्ट करके अभिव्यक्ति-चातुर्य एवं बुद्धि-विलास को बल दे सकेगा, यह अविश्वसनीय नहीं है।

---

१. रामनरेश त्रिपाठी

२२

लोकवार्ता-शास्त्र-सम्बन्धी प्रकाशित सामग्री

[लोकवार्ता-शास्त्र का अध्ययन करने के लिए प्रामाणिक सामग्री की सूची अत्यावश्यक है। श्री महादेव साहा द्वारा 'लोक-साहित्य-सम्बन्धी भारतीय साहित्य की संक्षिप्त सूची' सम्मेलन पत्रिका (पौष शुक्ल प्रतिपदा, संवत् २०१०, भाग ४०, संख्या १) में प्रस्तुत की गई है। इसके पूर्व हिन्दी में इस तरह का प्रयत्न नहीं हुआ। बंगला में मनसूरउद्दीन ने 'हारामणि' (१९४२) ग्रन्थ में ऐसी ही सूची दी थी। पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने भी 'कविता कौमुदी' (५वाँ भाग) में अंग्रेजी, हिन्दी, गुजराती और मराठी पुस्तकों की सूची दी है। किन्तु यह कार्य हिन्दी में अधिक विस्तार से नहीं किया गया। इस अभाव की पूर्ति के लिए ऊपर उल्लिखित सूचियों की पुस्तकों को प्रस्तुत सूची में सम्मिलित करते हुए अनेक नई पुस्तकों और सामग्री का निर्देश यहाँ किया जा रहा है। प्रस्तुत सूची में जिन पुस्तकों अथवा सामग्री का उल्लेख किया गया है वह मुख्यतः भारतीय लोकवार्ता-शास्त्र से सम्बन्धित है; जिनका सम्बन्ध अभारतीय लोकवार्ता-शास्त्र से है उन्हें यहाँ सम्मिलित नहीं किया गया है। यह सूची पूर्ण नहीं है। मेरा अनुमान है कि अंग्रेजी में और भी पुस्तकें अवश्य हैं जिनका यहाँ जिक्र नहीं किया जा सका। हिन्दी में राजस्थानी गीतों की एक पुस्तक मेरे देखने में आई थी, किन्तु उसके आगे-पीछे के पृष्ठ न होने से लेखक-प्रकाशक का पता न चल

सका। बंगाली पुस्तकों की सूची-महादेव साहा के आधार पर है। उन्होंने अंग्रेजी की केवल ११२ पुस्तकों का जिक्र किया है। यहाँ और भी पुस्तकें सूची में मिला दी गई हैं। गुजराती की सूची अधूरी है। जो भी सामग्री ज्ञात थी, उसका उपयोग किया जा सका है। वैसे अनेक भाषाओं की सामग्री यहाँ छूट गई है, फिर भी सुविधा के लिए यह सूची उपयोगी है। इसे आगे बढ़ाया जा सकता है।]

हिन्दी

१. आर्चर, डब्ल्यू० जे० और संकटाप्रसाद : भोजपुरी ग्रामगीत
२. कन्हैयालाल सहल : राजस्थानी कहावतें
३. कृष्णदेव उपाध्याय : भोजपुरी ग्रामगीत (२ भाग), हि० सा० सं०, प्रयाग, सं० २०००
४. कृष्णानन्द गुप्त : इसुरी की फागें (भाग १), लोकवार्ता परिषद्, टीकमगढ़।
५. खंग बहादुर मानन : सुधाबूँदा, बाँकीपुर, १८८४
६. खेताराम माली : मारवाड़ी गीत-संग्रह
७. जगदीशसिंह गेहलोत : मारवाड़ी ग्रामगीत
८. ताराचन्द ओझा : मारवाड़ी स्त्री-गीत संग्रह
९. दुर्गाशंकर प्रसादसिंह : भोजपुरी लोकगीतों में करुण रस, १९५०.
१०. देवेन्द्र सत्यार्थी : धरती गाती है, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
११. ,, : धीरे बहो गंगा ,,
१२. ,, : बेला फूले आधी रात, राजहंस प्रकाशन, दिल्ली
१३. ,, : बाजत आवे ढोल, एशिया प्रकाशन, नई दिल्ली
१४. नरोत्तम स्वामी : राजस्थान रा दूहा, १९३५
१५. नन्दलाल चत्ता : काश्मीर की लोक-कथाएँ, १९५२
१६. निहालचन्द्र वर्मा : मारवाड़ी गीत, १९५२

१७. पृथ्वीनाथ चतुर्वेदी और हीरालाल सन्त : हमारे लोकगीत, फर्रुखाबाद, १९५४
१८. मदनलाल वैश्य : मारवाड़ी गीतमाला
१९. मन्मथराय : हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव, इलाहाबाद, १९५३
२०. मेनरिया : राजस्थानी भीलों की कहावतें
२१. रतनलाल मेहता : मालवी कहावतें, राजस्थान शोध संस्थान, उदयपुर
२२. रामइकबालसिंह 'राकेश' : मैथिल लोकगीत, हि० सा० स०, प्रयाग, संवत् १९९९
२३. रामनरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी (५वाँ भाग), हिन्दी मन्दिर प्रयाग, संवत् १९८६
२४. रामनरेश त्रिपाठी : हमारा ग्राम-साहित्य, १९४०
२५. ,, : ग्राम-साहित्य, भाग १, १९५१
२६. ,, : ग्राम-साहित्य भाग-३, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।
२७. रामनरेश त्रिपाठी : मारवाड़ के मनोहर गीत, हि० मं०, प्रयाग, सं० १९८७
२८. रामनारायण उपाध्याय : निमाड़ी लोकगीत, हि० सा० स०, जबलपुर, १९४९
२९. रामसिंह, पारीक, नरोत्तम स्वामी : ढोला मारू रा दूहा, काशी ना० प्र० स०, १९९१
३०. राहुल सांकृत्यायन : आदि हिन्दी की कहानियाँ और गीतें, पटना, १९५२
३१. लखनप्रताप 'उरगेश' : बाघेली लोकगीत, कटिया (वि० प्र०), १९५४
३२. ल० जोशी : मेवाड़ की कहावतें, उदयपुर
३३. वासुदेवशरण अग्रवाल : पृथिवी पुत्र, दिल्ली, १९४९
३४. विद्यावती 'कोकिल' : सोहागगीत, प्रयाग, १९५३
३५. शिवसहाय चतुर्वेदी : बुन्देलखण्ड की ग्राम्य-कहानियाँ

३६. शिवसहाय चतुर्वेदी : पाषाण नगरी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
३७. ,, : गौने की विदा, पटना, १६५३
३८. श्यामाचरण दुबे : छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का परिचय, १६४०
३९. श्याम परमार : मालवी लोकगीत, इन्दौर, सं० २००६
४०. ,, : मालवी और उसका साहित्य, दिल्ली, १६५४
४१. ,, : मालवा की लोक-कथाएँ, दिल्ली, १६५४
४२. सन्तराम बी० ए० : पंजाबी गीत
४३. सत्येन्द्र : ब्रज की लोक-कहानियाँ, १६४७
४४. ,, : ब्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन, आगरा
४५. सुकुमार पगारे : सन्त सिंगाजी, खण्डवा, १६४६
४६. सूर्यकरण पारीक एवं गणपति स्वामी : राजस्थान के ग्रामगीत, भाग १, दिल्ली, १६६७
४७. सूर्यकरण पारीक एवं गणपति स्वामी : राजस्थानी लोकगीत, प्रयाग, १६६६
४८. सूर्यकरण पारीक एवं गणपति स्वामी : राजस्थान के लोकगीत (भाग १-२), कलकत्ता
४९. सूर्यकरण परीक एवं गणपति स्वामी : राजस्थानी बाँता, कलकत्ता
५०. श्रीचन्द्र जैन : विन्ध्यप्रदेश के लोकगीत, दिल्ली, १६५४
५१. ,, : विन्ध्यप्रदेश की लोक-कथाएँ, दिल्ली, १६५३

<u>बंगला</u>

१. अफताबुद्दीन : मलया मनमोहन
२. आशरफ हॉसेनेर ग्रन्थावली
३. कर, महेन्द्रनाथ : खनार वचन (संग्रहीत), १३३६
४. काव्यतीर्थ, वीरेश्वर : व्रतमाला विधान, १३१०
५. काशकुल कालिमी
६. कांगाल हरिनाथ : बाउल गान

७. कांगाल हरिनाथ : बारमासेर पुँथि
८. ,, : हिन्दुस्थानी ग्रामगीत
९. ,, : हिन्दुस्थानी लोकगीत
१०. ,, : हासान उदास
११. कांजिलाल, अनिल : बांगलार प्राचीन काव्य, १९५०
१२. गुरुप्रसाद दत्त : पटुआ संगीत
१३. गुप्त, रामप्राण (संकलनकर्ता) : व्रतमाला, १३१४
१४. गोरक्ष विजय, बंगीय साहित्य परिषद्
१५. चक्रवर्ती, कालीचरण : राधक राजमोहन
१६. चौधरी : लौकिक धर्म ओ देबादेबी
१७. जासीमुद्दीन : नक्सी कांथार माठ
१८. ,, : रंगला नायरे माझि
१९. ठाकुर, अवनीन्द्रनाथ : बंगलार व्रत
२०. ,, : मीनचेतन, बंगीय सा० परिषद्
२१. ठाकुर, रवीन्द्रनाथ : लोक साहित्य, १३१४ (बंगाब्द)
२२. ,, : छन्द
२३. ,, : शिक्षा
२४. तर्क वागीश, काशीनाथ (अनु०) : व्रतमाला, १७८९ (शकाब्द)
२५. दत्त, अक्षयकुमार : भारतीय साधक सम्प्रदाय, २ भाग
२६. ,, : महानिर्वाण तन्त्र, बंगवासी संस्करण
२७. दत्त, भोलानाथ (प्रका०) : डाकेर कथा, १-७ खण्ड, १३०४
२८. दे, सुशीलकुमार : बांगला प्रवाद, १९५२
२९. नाथ, शरच्चन्द्र : बाउल गान, १३४१ (बंगाब्द)
३०. नाथ, राधागोविन्द : चैतन्य चरितामृत
३१. ,, : तारिकत दर्पण
३२. पालित, हरिदास : आधेर गम्भीरा, १३१९
३३. प्राचीन पुंथिर विवरण, बंगीय साहित्य परिषद्

३४. भट्टाचार्य, आशुतोष : बंगाला मंगल काव्येर इतिहास, १९५१
३५. मजुमदार मोहितलाल : हेमन्त गोधूलि
३६. मनसूर उद्दीन : हारामणि खण्ड १, १९३०
३७. ,, : हारामणि (लोक-संगीत-संग्रह), १९४२
३८. मारफती संगीत
३९. मित्र, दक्षिणारंजन : ठाकुर दादार झुलि
४०. ,, : ठाकुर मार झुलि
४१. मुखोपाध्याय, दुर्गागति (संग्रहकर्ता) : डाक पुरुषेर कथा, १३११
४२. वसु, मणीन्द्रनाथ : सहजिया साहित्य
४३. वन्द्योपाध्याय, चारुचन्द्र : वंगवीणा
४४. वन्द्योपाध्याय, राखालदास : बांगलार इतिहास (१-२ भाग) १३२१-२४
४५. वन्द्योपाध्याय, मणिलाल : व्रत उद्यापन, १३२२
४६. बंग भाषा ओ साहित्य (अष्टम संस्करण), १९५०
४७. सरस्वती, नीलकान्त : व्रत कथा सार
४८. सरकार, पवित्र (प्रकाशित) : बाउल गान
४९. साहु, लक्ष्मीनारायण : दण्डनाथ
५०. सांगीतिकी, कलकत्ता विश्वविद्यालय
५१. सेन, दीनेशचन्द्र : मयमनसिंह गीतिका (पूर्व बंग गीतिका)
५२. ,, : गोपीचन्देर गान
५३. सेन, सुकुमार : बंगला साहित्येर इतिहास (प्रथम खण्ड)
५४. सेन, क्षितिमोहन : मध्ययुगे भारतीय साधनार धार (क० वि०)
५५. ,, : दादू (विश्वभारती)
५६. ,, : कबीर (विश्वभारती)
५७. सेन, गिरीशचन्द्र : तापसमाला
५८. हक, एनामुल : वंगे सूफ़ी प्रभाव

गुजराती

१. आचार्य : चंडीपथ ना गर्बा
२. कान्तिलाल शाह : काश्मीर नी लोककथाओं
३. गुजराती विद्या सभा : रासमाला, अहमदाबाद
४. छेल्लु प्रयाण (विवेचनात्मक)
५. झवेरचन्द मेघाणी : लोक-साहित्य
६. ,, : रढियाली रात (३ भाग)
७. ,, : चुन्दड़ी (२ भाग)
८. ,, : सौराष्ट्रनी रसधार (५ भाग)
९. ,, : सोरठी वहार वटिया (३ भाग)
१०. दलाल : प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह, १९२१
११. नर्मदाशंकर लालशंकर : नागर स्त्रियों मा गावतागीत
१२. परकम्मा (विवेचनात्मक)
१३. परिभ्रमण (विवेचनात्मक)
१४. पाटीदार जातिना सांसारिक रीतिरिवाजनो एकीकरण : शिक्षा-विभाग, बड़ौदा
१५. पंड्या याज्ञनिक : श्री नाड़ियाद वदनगर नागर ब्राह्मण जातिक ना रीति-रिवाज
१६. बुच : उदासी पंथना नीति वचनो
१७. भोज भगत : कविता (प्राचीन काव्यमाला), १८९०
१८. रणजीतराय मेहता : लोकगीत
१९. शाह, एस० एन० : ढोला मारू, बम्बई, १९५४

मराठी

१. अनुसूया भागवत : जानपद गीतें
२. कमलाबाई देशपाण्डे : अपौरुषेय वाङ्मय अर्थात् स्त्री गीतें, पुणें, १९४८

३. कालेलकर व चोरघड़े : साहित्याचें मूलधन
४. गोरे, पा० श्र० : वर्‍हाड़ी लोकगीतें, यवतमाल
५. मालती दाण्डेकर : लोक साहित्याचें लेणें, बुधगाँव, सतारा, १९५३
६. वि० वा० जोशी : लोक-कथा व लोकगीतें
७. सानेगुरू : स्त्री जीवन (दो भाग)

उर्दू

१. दीन महम्मद कुश्ता : पंजाब दे हीरे
२. रामशरण एडवोकेट : पंजाब दे गीत, लाहौर
३. होतूराम : बिलोचीनाम, लाहौर, १८८१

पंजाबी

१. अमृता प्रीतम : पंजाब दी आवाज, नवयुग, दिल्ली, १९५२
२. किश्नचन्द मोंगा : असली रंग-बरंगे गीत, अमृतसर, १९४६
३. देवेन्द्र सत्यार्थी : गिद्धा
४. ब्रह्मदास : रतनज्ञान (गुरु), अमृतसर, १९००
५. हरभजन गिआनी : पंजाब दे गीत (देवनागरी), अमृतसर

पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी सामग्री

—अवन्तिका (अगस्त, १९५३) : 'हिन्दी के साहित्य के इतिहास में लोक-साहित्य'—शिवनन्दन प्रसाद एम० ए०

—अजन्ता (अगस्त, १९५२) : 'आदिवासियों के प्रेमगीत'—कल्याण विंदनूरकर

— ,, (जनवरी, १९५४) : 'भारतीय लोक-साहित्य का विकास'—तिलक

— ,, (जनवरी, १९५४) : 'आन्ध्र देश की कविता और लोकगीतों से उसका विकास'—वेंकटेश्वर शास्त्रालु

—अजन्ता (फरवरी, १९५४) : 'भारतीय लोकगीतों में नारी'—कृष्ण-लाल हंस
—अजन्ता (अप्रैल, १९५४) : 'पंजाबी लोक-साहित्य'—करतारसिंह दुग्गल
—आजकल : आदिवासी अंक, १९५३, लोककथा अंक, १९५४ तथा विभिन्न अंकों की सामग्री
—आलोचना (अप्रैल, १९५२) : 'लोक-साहित्य की यथार्थवादी परम्परा'—देवेन्द्र सत्यार्थी
—आलोचना (जुलाई, १९५२) : 'हिन्दी-साहित्य के विकास में लोकवार्ता की पृष्ठभूमि'—डॉ० सत्येन्द्र
—कल्पना (फरवरी, १९५१) : 'लोकगीत' शीर्षक सम्पादकीय
— ,, (फरवरी, १९५३) : 'भारतीय लोककला'—अजितकुमार मुकर्जी
—जनपद (हिन्दी जनपद परिषद् का त्रैमासिक) : प्रत्येक अंक
—दक्षिण भारत (जनवरी, १९५४) : 'महाराष्ट्र के लोकनाट्य'—श्याम परमार
—नया पथ (अगस्त, १९५३) : 'लोक-भाषा और लोक-साहित्य'—राहुल सांकृत्यायन
—नई धारा (मासिक) : 'जंगल गाता है' स्तम्भ के लेख
—नागरी प्रचारिणी पत्रिका (भाग १७, अंक ३) : 'मेरठ के आसपास क्षेत्र वाले मुहावरे'—राजेन्द्रसिंह
—नागरी प्रचारिणी पत्रिका (भाग १८, अंक १-२) : 'गढ़वाली भाषा के पाखाणा (कहावतें)'—शालिग्राम वैष्णव
—प्रतिभा (फरवरी, '५४) : 'छत्तीसगढ़ के सांस्कृतिक गीत'—देवीप्रसाद वर्मा
— ,, (फरवरी, '५४) : 'रूसी लोक-साहित्य में जादू-टोना'—राजेन्द्र ऋषि
— ,, (मार्च, '५४) : 'होली के छत्तीसगढ़ी लोकगीत'—कमलकुमार श्रीवास्तव

—प्रतिभा (मार्च, '५४) : 'फागों का त्यौहार'—देवीशंकर अवस्थी

—पाटल (मार्च, १९५४) : 'लोक-साहित्य की समस्याएँ'—बैजनाथसिंह विनोद

—(अप्रैल, १९५४) : 'भोजपुरी लोक-गीतों में नारी'—उमादेवी यादव

—प्राच्य मानव वैज्ञानिक, १९४९ का अंक : 'लोकगीतों का सांस्कृतिक महत्त्व और कवित्व'—नरेशचन्द्र

—ब्रजभारती (ब्रज साहित्य मण्डल, मथुरा) के अंक

—भारती (जुलाई, १९५०) : 'काठियावाड़ और गुजरात के गर्बा गीत'—कुसुमपाल निहारिका

—भोजपुरी (पटना) लोक-साहित्य और अन्य अंक

—मधुकर (वीरेन्द्र केशव सा० परिषद्, टीकमगढ़) १९४० से ४५ तक के अंक

—'राजस्थान' (राजस्थान रि० सो०, कलकत्ता) सं० १९९२ के अंक

—राजस्थान भारती (सादूल राजस्थानी रि० इन्स्टीट्यूट, बीकानेर) सन् '५१-'५२ और '५३ के अंक

—राष्ट्रभारती (नवम्बर १९५१) : 'गंगा-गौरी सम्वाद'—वाराणसी राममूर्ति रेणु

—राष्ट्रभारती (अप्रैल, १९५४) : 'रूसी लोक-साहित्य में विलाप गीत'—राजेन्द्र ऋषि

—लोकवार्ता (लोकवार्ता परिषद्, टीकमगढ़) प्रत्येक अंक (१९४५–४६)

—विश्वमित्र मासिक (जनवरी, १९४७) : 'दक्षिण बिहार के ग्राम गीत'—मोहनप्रसाद सिंह

—विशाल भारत (फरवरी, १९२९) : 'दो मारवाड़ी गीत'—लक्ष्मी नारायण पचीसिया

—विक्रम (श्रावण, २००७) : 'जीजा या बड़ी के गीत'—श्याम परमार

—विक्रम (वैशाख, २००९) : 'मालवी ग्राम-साहित्य की पहेलियाँ'—चिन्तामणि उपाध्याय

—विक्रम (माघ, २०१०) : 'लोक-साहित्य की मीरा—चन्द्रसखी'—
चिन्तामणि उपाध्याय

—विन्ध्यभूमि (मार्च, १९५४) : 'लोककला और लोक-साहित्य'— मार्कण्डेय

—वीणा (मार्च-अप्रैल, १९५४) : 'लोक-कथाओं की जन्मभूमि-पंजाब'—
नरेन्द्र धीर

—वीणा (जून, १९५०) : 'लोकगीत : एक परिचय'—श्याम परमार

—सम्मेलन पत्रिका (लोक-संस्कृति विशेषांक) हिन्दी सा० स० प्रयाग,
२०१०

—सम्मेलन पत्रिका (पौष शुक्ल, २०१०) 'निमाड़ी लोक-कहावतें और
उनका सौन्दर्य' रामनारायण

—समाज (नवम्बर, १९४९) : 'लोकनृत्य और गीत'—रामइकबालसिंह
'राकेश'

—साधना (जुलाई, १९४१) : 'चैता : ग्राम संगीत'—नरसिंह राम शुक्ल

„ (अगस्त, १९४१) : 'बनजारों के गीत'—मूलचन्द्र 'शौर'

—सुमित्रा (सितम्बर, १९५२) : 'वर्षा और स्वास्थ्य विज्ञान'—शिवसहाय
चतुर्वेदी

—सुमित्रा (नवम्बर, १९५२) : 'मालवी साहित्य का संक्षिप्त परिचय'—
श्याम परमार

— हंस (फरवरी, १९३९) : 'हमारे ग्राम गीत'—देवेन्द्र सत्यार्थी

— „ (सितम्बर, १९४०) : 'लोकगीत : एक अध्ययन'—राकेश

— „ „ : 'छत्तीसगढ़ी ग्राम्य कथाएँ'—श्यामाचरण दुबे

— „ „ : 'मालव लोकगीतों की नारी'—प्रभागचन्द्र शर्मा

— „ (सितम्बर १९४३) : 'मातृभाषाओं का प्रश्न'—राहुल सांकृत्यायन

— हिन्दुस्तान साप्ताहिक के लेख एवं लोक-साहित्य विशेषांक, २ मई
१९५४

पुस्तकों की सामग्री

हिन्दी

१. राहुल सांकृत्यायन : 'किन्नर देश' और 'हिमालय परिचय' पुस्तकों में दिये गए गीत
२. शिवदानसिंह चौहान : प्रगतिवाद—'जनपदीय भाषाओं का प्रश्न' (१८६-२७६)
३. हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ सम्प्रदाय—'लोक भाषा में सम्प्रदाय के नैतिक उपदेश' (१६२-१६७)
४. त्रिलोकीनारायण दीक्षित : संत दर्शन—'सन्तों के लोकगीत' (२२१-२४२)

बंगला

१. बंगीय साहित्य परिषद् पत्रिका

१३०१

१. छेल भुलान छड़ा : रवीन्द्रनाथ ठाकुर	१०१-१६२
२. कलिकातार संगृहीत छड़ा : ,,	१६३-२०२

१३०२

३. छेले भुलान छड़ा : वसन्त रंजन राय	३६७-३७१
४. सांओताल परगनार छड़ा : ,,	३७१-३७४
५. मेयेलि छड़ा : रवीन्द्रनाथ ठाकुर	३७४-३८१

१३०३

६. छड़ा (वर्द्धमान) : कुंजलाल राय	५६-६१
७. वही (हुगली) : अम्बिकाचरण राय	६१-६४

१३०६

८. गोविन्द चन्द्रेर गीत : शिवचन्द्र शील	२६७-२७२

१३०८

९. दक्षिणापथे प्रचलित पूजा ओ व्रत : दीनानाथ वन्द्योपाध्याय	१५-२२

प्रवासी

१३०७

१. मेथेलो साहित्य श्रो वारव्रत—अघोरनाथ चट्टोपाध्याय २२५-२२७, २६५-२६७
२. भूतेर बाप—गिरिजाकुमार घोष २३७-२४२
३. बिहु : अन्नदाप्रसाद चट्टोपाध्याय २६३–२६५
४. चैत्रपूजा : रसिकचन्द्र बसु ४२६–४३५

१३१०

५. होली गीत : नगेन्द्रनाथ गुप्त ४७२–४७४
६. काजली (कजली ?) परब : कोई प्रवासिनी ३६०–३६५
७. पूर्व वंगेर मेयेलि व्रत ५१६–५२०

१३१४

८. वंगे हिन्दू श्रो मुसलमान : एक बंगाली १६१–२०३

१३१६

९. गोपी चाँदेर माता : विश्वेश्वर भट्टाचार्य ४१३–४१६

१३३३

१०. रूप कथा श्रो इतिहास : शचीन्द्रलाल राय ३२८–३३२
११. 'तुषु' पूजा : शिशिर सेन ३८६–३८७
१२. वंगभाषाय बौद्धस्मृति : रमेशचन्द्र वसु ४६८–५०६

१३३४

१३. ग्राम्य गीति श्रो कविताय वाराषे : हिरन्मय मुन्सी ५०४–५०५
१४. धर्मेरगान कलकालेर : योगेशचन्द्र राय ६३६–६४५

१३३५

१५. लालनशाह : वसन्तकुमार पाल ३८–४२
१६. बाउल गान : महम्मद मनसुर उद्दीन ३१४
१७. मैमनसिंहेर पल्ली कवि कंक : चन्द्रकुमार दे ५१३-५३२
१८. इन्द्राली पूजा : राजेन्द्रकुमार शास्त्री ६०१-६०२

१३३६

१६. यमपुकुर व्रतेर प्राचीनत्व : अनिलचन्द्र गुप्त ५७

२०. गुजराटे गोपीचाँदेर गान : ननीगोपाल चौधुरी ६३६-६४०

१३३७

२१. गुजराटी गरबा : पवित्रकुमार गंगोपाध्याय ४०२-४०७

२२. हुगलीर पल्ली कवि रसिकलाल राय : मनमोहन नरसुन्दर ६३७-६४१

२३. सावित्री व्रत : अनुरूपा देवी ८०७-८१०

१३३८

२४. पोलाण्डेर प्राचीन नृत्य-कला : लक्ष्मीश्वर सिंह ७६२-७६५

१३३६

२५. बांगलार रसकला सम्पद : गुरु सदयदत्त १०१-१०३

२६. पल्लीशिल्प : जसीमुद्दीन ८०६-८१७

२७. बांगलार लोक-नृत्य ओ लोक-शिल्प : गुरु सदयदत्त ८

१३४०

२८. लिंगोपासना : विधुशेखर भट्टाचार्य ७४१-७४२

२६. राजघाटेर व्रतनृत्य : गुरु सदयदत्त १०१-११२

३०. विद्यासागर उपाख्यानेर मुसलमानी रूप : चिन्ताहरण चक्रवर्त्ती ५००-५०१

१३४१

३१. नृत्यरता भारती : अजितकुमार मुखोपाध्याय

विविध

(त्रैमासिक, मासिक और दैनिक आदि संक्षेप : आ० बा० प० आनन्द बाजार पत्रिका)

१. पूर्व बंगेर साहिरगान : प्रभातकुमार गोस्वामी, आ० बा० प० ६-११-१६४१

२. हारामणि : मनसुरउद्दीन : सत्यवार्त्ता, ईद अंक १६४०

३. बांगलार लोक संगीत : जरीन कलम, विचित्रा मासिक
४. साँओताल पल्ली गीति : चारुलाल मुखोपाध्याय, देश साप्ताहिक (१९३७)
५. श्री हट्टेर पल्ली गीति : आब्दर रज्जाक, आ० बा० प० २९-४-१९४१
६. लालन फकीर : विश्वनाथ मजुमदार आ० बा० प० २९-४-४१
७. कलिकाता विश्वविद्यालयेर प्रवेशिका परीक्षार संगीत प्रश्नपत्र आ० बा० प० १६-३-४१
८. छेले भुलान छड़ा : तारकनाथ वन्द्योपाध्याय, आ० बा० प० १६-३-१९४१
९. बर्द्धमान जेला पल्ली-साहित्य सम्मेलन आ० बा० प० १८-४-४१
१०. लोक-साहित्य संग्रह : सुरेन्द्रनाथ दास, युगान्तर दैनिक १४-१०-४२
११. निखिल वंग पल्ली साहित्य सम्मेलन : आ० वा० प० ३१-३-४०
१२. बाजनाम आपत्ति : आ० बा० प० २७-४-४०
१३. शिलचरे शोचनीय हत्याकाण्ड : आ० बा० प० १२-३-३७
१४. बांगलाय पल्लीगान सम्बन्धे यत्किंचित आलोचना : मनमोहन घोष विचित्रा मासिक
१५. कविगान : पूर्णचन्द्र भट्टाचार्य, आ० बा० प० १४ श्रावण, १३४६
१६. कविगान : पूर्णचन्द्र भट्टाचार्य, आ० बा० प० ३१ श्रावण, १३४६
१७. उत्तरवंगे चोरेर छड़ा : ताराप्रसन्न मुखोपाध्याय आ० बा० प० १५-६-१९३६
१८. बाउल ओ मुर्शिदी गान : यतीन्द्र सेन, आ० बा० प० १९४०
१९. रंगपुरेर भाएया गान : यतीन्द्र सेन, आ० बा० प० ७-१-१९४०
२०. जारीगान ओ पागला कानाइ : माधव भट्टाचार्य, आ० बा० प० ११-१२-१९३९
२१. पश्चिमवंगेर भादो जागरण गीति : फाल्गुनी मुखोपाध्याय, आ० बा० प० ६ वैशाख, [illegible]

२२. मुर्शिदी गान : यतीन्द्र सेन, आ० बा० प० १०-१२-१६३६
२३. मेघदूत : बिजली, नवशक्ति साप्ताहिक २६ जनवरी, १६३२
२४. बांगलार पल्ली सम्पद् : गुरु सदयदत्त, वंगलक्ष्मी, फाल्गुन, १३३७
२५. प्राचीन बांगला साहित्य : यतीन्द्र सेन, आ० बा० प० ६ जुलाई, १६३६
२६. बाउलेर धर्म : वंगवाणी, ७ माघ, १३३८

मराठी

—अनसूया लिमये : सह्या महाराबग, सत्यकथा, दिवाली अंक, नवम्बर, १६५२
—उ० मा० कोठारी : स्त्री हृदय, अहमदनगर कॉलेज त्रैमासिक, अगस्त १६५१
— ,, पंढरीया विठ्ठल, अहमदनगर कॉलेज त्रैमासिक, फरवरी १६५२
—कमलाबाई देशपाण्डे : महाराष्ट्रांतील कौटुम्बिक जीवन, प्रसाद, अप्रैल १६५३
— ,, 'महाराष्ट्रांतील अपौरुषेय वाङ्मय', वाङ्मय शोभा, जुलाई १६४६
—कर्वे, चि० ग० : 'मुंबईची लोकगीतें', प्रसाद, अप्रैल १६५२
— ,, 'कहाण्यांच्या शास्त्रीय अभ्यासची दिशा', प्रसाद, जनवरी १६५२
— ,, 'आसरा अर्थात् जलदेवता सम्प्रदाय', प्रसाद, जून, १६५२
— ,, 'कोकणांतील भुतें', प्रसाद, जुलाई १६५२
—काले, डी० एन : 'आगरी लोकांची गीतें' (Agris : A Socio-Economic Survey निबन्ध का परिशिष्ट, १६५२)
—दुर्गाभागवत : हृदग्याचीं व भोंडल्याचीं गाणी, सत्यकथा, फरवरी १६५२
— ,, 'वणजारी ओव्याव गीतें',साहित्य सहकार, सितम्बर-अक्तूबर १६५२
— ,, 'कृष्णदेवता सीता' सत्यकथा, सितम्बर १६५२
— ,, 'तुलशीच्या कथा', सत्यकथा, अप्रैल १६५२
— ,, 'लोकगीतांचा प्राचीन प्रचारक वररुचि', सह्याद्रि, जनवरी १६५३
— ,, 'ट्यूटॉनिक लोक-साहित्य' केसरी, ४ जनवरी १६५३

—नरेश कवड़ी : 'लोकविद्या आणि लोकवाङ्मय', सत्यकथा, अक्टूबर १९५२
—चिपलूणकर, मो० वा० : 'हवामान सम्बन्धींचे वाक्यप्रचार,' चित्रमय जगत, जुलाई, १९५२
—मालती दाण्डेकर : 'ग्रामीण महिला वाङ्मय', वसन्त, जून १९५२
—वामनकृष्ण चोरघड़े : 'लोकगीतें', साहित्य, अक्टूबर १९४८
—सरोजनी बाबर : 'जुनी ठेव', मन्दिर, १९५०
— ,, 'जानपद ओवी', जनवाणी, दिवाली अंक, १९५०
— ,, 'जानपद उखाणा', जनवाणी, दिवाली अंक, १९५१
— ,, 'विरंगुलयाचीं गाणीं', लोकवाङ्मय, दिवाली अंक, १९५२
— ,, 'लोकवाङ्मय', केवलानन्द सरस्वती सत्कार ग्रन्थ, १९५२
— ,, 'जात्यावरील गोड गाणी,' समाज शिक्षणमाला, पुष्प ६
— ,, 'खडेयांतील स्त्रियांची कविता', साहित्य पत्रिका, अप्रैल, मई-जून १९५२
—सुलोचना सप्तर्षि : 'प्रेमाचा अथांग सागर', संगम, अक्टूबर १९५२

अंग्रेज़ी पुस्तकें

Abbott, J. : The Keys of Power, A study of Indian Ritual and Belief, 1932.
Agarkar, A. J : Folk Dance of Maharashtra, Bombay.
A Glossary of Castes, Tribes and Races in Baroda State, Bombay, 1912.
Aiyappan, A. : Anthropology of the Nayadis, Madras Govt. Museum Bulletins, N. S. Vol. II. No. 4, 1914.
Aiyanger, M. S. : Tamil Studies, Madras, 1914.
Allahabad Univ. Studies, Vol. XI, 1935 : The Original Inhabitants of U. P.
Anand Coomarswamy : Arts & Crafts of India.
Archer, W. G. : The Blue Groves, (George Allen & Unwin).

Asiatic Society monographs (Vol. IV, 1901), The Baloch Race.

Avalon, A. : Serpent Power, 1919.

Bake, A. : Indian Music, Baroda State Press.

Banerjee, B. : Ethnologic du Bengal.

Baring Cloud : Strange Survivals, 1892.

Bartlett, F. C. : Psychology of Primitive Culture, Cambridge, 1923.

Basu, M. M. : Post-Chaituya Sahajiya Cult.

Benoy Kumar Sarkar : Folk Elements in Hindu Culture.

Benoytosh Bhattacharya : Sdan Mata, Buddhist Gods, Iconography of B. Gods.

Benfey, J. : Panchatantra, 1859.

Benerji, Shastri : Ethonography (Castes & Tribes) with a list of the more Important Works on Indian Ethnography by W. Seigling in Gundriss der Indo-Arischen Philologie and Altertumskunde, II Band, Strassburg, 1912.

Bengal District Gazetteers.

Benerjee, U. K. : Hand Book of Proverbs, English & Bengali, Cal. 1891.

Bombay Presidency Gazeteer (Vol. IX), 1901, Guzerat Population, Hindus.

Boyd : Village Folk of India, 1924.

Briffault, R. : The mothers : A study of the Origins of Sentiments and Institutions, 3 vols. Lon. 1927.

Briggs G. W. : The Chamars, R. L. I. Series.

" : Gorakhanath and the Kanphata Yogis, Calcutta, 1938.

Burton, R. F. : Sindh and the Races that inhabit the Valley of Indians, 1851.

Buck, C. H. : Faiths, Fairs and Festival of India, 1917.

Burne, C. S. : The Hand book of Folklore, 1914.

Burton, R. : Sindh Revisited, 1877.

Bulletin of the Dec. College Research Institute (Vol. I. No. 1) Dec. 1939) : Some Folk Songs of Maharashtra.

Chande, R. P. : Non Vedic Elements in Brahamanism, Varendra Research Society, Rajasthan,

Chaterjee, S. K. . Origin and Development of Bengali Language, 2 vols., 1927.

Chaterjee, N. : Yatra.

Chelkesa, T. : Parallel Proverbs, Tamil & English, Madras, 1869.

Christian, J. : Bihar Proverbs, London, 1891.

Clodd : Myths and Dreams, 1885.

Cox, M. R. : Introduction to Folklore.

Crooke, W. : An Introduction to Popular Religion and Folklore of N. India.

Crooke, W. : Tribes and Castes of U. P.

Dalton : Descriptive Ethnology of Bengal.

Das Gupta, S. B. : Obscure Religious Cults in Bengali Literature, Calcutta, 1940.

Das, S. : History of Sakta.

Devendra Statyarthi : Meet my People, 1952

Dey, L. B. : Bengal Peasant Life, London, 1878.

Dey : Music of Southern India.

Dinesh Chandra Sen : History of Bengali Language and Literature, 1911.

Dowson, J. : A classical Dictionary of Hindu Mythology & Religion, Geog., Hist. and Literature, 4th Ed. 1903.

Dubois, L. : Hindu Manners, Customs and Ceremonies, 1906.

Dube S. C. : The Kamars, Lucknow, 1912.

Dubash, Miss. P. N. : Hindu Art in its Social Setting, 1936.

Ehrenfels, O. R. : Mother Right in India. Hyderabad (Dn.), 1941.

Elliot, H. M. : Memoirs on the History, Folklore, and distribution of the races of the North W. Provinces of India, 1869.

Elwin, V. and Hivale : Songs of the Forest, Allen & Unwin.

Elwin, V. and Hivale : Folk songs of Maikal Hills, 1936.

Elwin, V. : The Baiga (Murray).
,, : The Agaria.
,, : Maria Murder and Suicide.
,, : Folk Tales of Mahakoshal.
,, : Folk songs of Chhattisgarh.
,, . Myths of Middle India.
,, : The Muria and their Ghotul.
,, : Bondo Highlander.
,, : The Tribal Art of Middle India, 1951.

Enthoven, R. E. : Folklore of Bombay.
,, : Folklore notes, Tribes and Castes of Bombay.

Eunice Ticljens : The Poetry of the Orient.

Encyclopeadia Britanica.

Fallen, S. W. : A Dictionary of Hindustani Proverbs, 1886.

Featherman, A. : Social History of the Races of Mankind, 7 Vols., 1881-19 .

Fiske : Myths and Myth makers, 1873.

Fox Strange way : Music of Hindustan.

Frazer, J. G. : The Golen Bough, 10 Vols., 3rd Ed., London 1922.

Frazer, J. G. : Tofanism and Exogomy, Lon. 1910.
,, : Folklore in the Old Testament, 3 Vols, Lon. 1918.

Gairola, T. : Psalms of Dadu.

Ganesh Narayan Deshpande : A dictionary of Marathi

Proverbs, Poona, 1900.

Ganga dutta, U. : Proverbs and Folklore of Kumaun and Garhwal, Ludhiana, 1894.

Ghurye, G. S. : Indian Costumes, Bom. 1951.

Gover, C. E. ; Folk Songs of Southern India, 1872.

Gomme, G. L. : Folklore Relics of Early Village life, 1885.

Gomme, G. L. : The Village Community, 1890.
,, : Ethonology in Folklore, 1892.
,, : Folklore as an Historical Science, 1908.

Grierson, G. A. : Behari Folk Songs.
,, : Bihar Peasant life, Calcutta, 1885.
,, : Linguistic Survey of India.

Gummer : The begining of Poetry.

Gurdon, P. T. : The Khasis, 1914.
,, : Some Assamese Proverbs, 1896.

Halliwell, J. C. : Popular Rhymes and Nursery Tales. 1849.

Haraprasad Shastri : Living Buddhism in Bengal.

Henpal, R. C. : The Legends of the Punjab, 1845.

Hislop, S. : Papers Relating to the Aboriginal Tribes of Central Provinces, Nagpur, 1866.

Hodson, T. C. : The Meitheis. 1908.

Hutton, J. H. : A Primitive Philosophy of Life, Oxford, 1938.

Hutton J. H. : The Angami Nagas, 1921.
,, : The Soma Nagas, 1921.

Hunter, W. W. : Annals of Rural Bengal, 1868.

Hutchinson, H.N. : Marriage Customs in Many Lands.

Ibbetson, D. : Punjab Castes, Lahore, 1916.

Indian Antiquary.

Iyer, L. A. K. : The Travancore Tribes and Castes, Trivandrum, 1937-41.

Iyer L. A. K. : The Cochin Tribes and Castes, Madras, 1909-12.

Iyer and Nanjundayya, H. V. : The Mysore Tribes and Castes, Bangalore, 1928.

Iyenger, M. V. : Popular Culture in Karnatak.

Jasimuddin : The Field of Embroidered Quilt,

Jamsetjee Petit : Collection of Gujrati Proverbs, Bombay.

Jemes Long : Eastern Proverbs and Emblems, London, 1881.

Jogendra Bhattacharya : Hindu Castes and Sects (Thacker, 1896).

Kalipade Mitra : Deities of Jalkar, B. & O. Research Journal, 1925.

Kunjabehari Das : A study of Orissan Folklore, Visva-bharti, 1953.

Leech : Sketch of the Balochi language, J. A. S. B., 1840.

Leifiner : Dardistan in 1866, 1886, and 1893, 1895.

Logan, W. : Mulabar, Madras, 1887.

Longworth Dames, M. : Popular poetry of the Baloches, the Folklore Society, London, 1907.

Lowie R. H. : Culture and Ethnology, 1917.
,, : Primitive Religion, London, 1925.

Luard, C. E. : Ethnological, Survey of C. I. Agency, Lucknow, 1909.

Maconochie : Agricultural Proverbs of Punjab.

Majumdar, D. N. : A Tribe in Transition, Calcutta, 1937.

Majumdar, D. N. : Some Aspects of the Cultural life of Khasas of the Cis-Himalayan Region in J. R. A. S. B., Calcutta, 1940.

Martirengo : Essays in the Study of Folk-Songs, 1886.

Mc Theal, G. : Kafir Folklore, 1886.

Mills, J. P. : The Lhota Nagas, 1923.
,, : The Ao Nagas, 1926.

Mukherjee, A : Folk Art of Bengal.

Natesa Shastri : Folklore in Southern India (3 Parts.).
,, : Familiar Tamil Proverbs.

Omens and Superstitions of Southern India, 1912.

Parry N. E. : The Lakhers, 1932.

Percival, P. : Tamil Proverbs with Eng. Translations, Madras, 1874.

Playfair : The Garos, 1909.

Popley : Music of India.

Powell and Vigfusson : Corpus Poeticum Boreale, 1883.

Projesh Banerji : The Folk Dance of India, Allahabad, 1944.

Projesh Banerji : Dance of India.

Ram Krishna, L. : Punjabi Sufi Poets.

Ravipati Guruvaya Guru : A collection of Telgu Proverbs, Madras, 1868.

Rev. Herman Tensen : A Collection of Tamil Proverbs, 1897.

Report on the Census of Bengal, Bihar and Orissa & Sikkim, (Vol. VI, Census of India, 1901.)

Report on the Census of India (Vol. I. of Census of India, 1931, Delhi, 1933.)

Rice, S. : Hindu Customs and their Origins, 1937.

Rivers, W. H. R. : The Todas. 1906.

Robertson, G. S. : The Kafirs of Hindukush, 1896.

Rochiram, G. : Handbook of Sindhi Proverbs, Karachi, 1845.

Rodrigner, E. A. : The Hindoo Castes, 1846.

Roy, S. C. : The Oraons of Chota Nagpur, Ranchi, 1915.

Roy, S. C. : The Hill Bhuiyas of Orissa, Ranchi, 1935.
: The Kharias, Ranchi, 1937.

Russel, R. V. and Hiralal : The Tribes and Castes of Central Provinces of India, 1916.

Russetti, D. G. : Ballades of Fair Ladies.

Ruth Sawyer : The Way of Story Teller.

Sarat Chandra Mitra : A Note on the Nepalese belief, Journal of B. & O. R. S., Vol. XVII.

Sarat Chandra Mitra : Styapira Legends in Santhali, Guise, do, Vol. XIII.

Sapekar, G. G. : Marathi Proverbs, Poona, 1872.

Sen Gupta, P. P. : Dictionary of Proverbs, Calcutta, 1899.

Sen, D. C. : Eastern Bengal, Ballads, Mymen Sing. (Vol. I-VI).

Sen, D. C. : Folk literature of Bengal, 1920.

,, : Glimpses of Bengal Life, 1925.

,, : History of Bengali Language, Cal. Univ., 1911.

Shahidullah : Les Chantes Mysteques.

Shakesphere, J. : Lushei Kuki Clan, 1912.

Shaw, W. : Notes on the Thandon Kukis (J. of A.S.B., Vol. XXIV, 1928, No. I.) Calcutta, 1929.

Sherreff, A. G. : Hindi Folk Songs.

Slater, G. : Dravidian Elements in Indian Culture, 1924.

Stack, E. : The Mikirs, 1908.

Temple, R. C. : The Legends of the Punjab, 1885.

Thoothi, N. A. : The Vaishnavas of Guzeral, 1935.

Thiselton Dyer : The Folklore of Plants, 1889.

Thorenton, T. S. : Handbook of Lahore.

Thurston E. and Rangachari, K. : Castes and Tribes of Southern India, Madras, 1909.

Tod : Annals and Antiquities of Rajasthan, Oxford,

1920.

Toru Dutta : Ancient Ballades and Legends of Hindusthan, 1882.

Triele, C. P. : Origin of Religion.

Tylor, E. B. : Primitive Culture, 1903.
,, : Early History of Mankind, 1865.

Vasu, N. N, : Modern Buddhism in Orissa, Calcutta, 1911.

Venkatswami, M. N. : The Folk tales of C. P. in Indian Antiquary, Nos. 24, 25, 26, 28, 30, 31, 32.

Waddel : Lamanism.

Wilson H H. : Religious Sects of the Hindus (Trubner, 1862).

Yusuf Hussain : Mystic India in Middle Ages.